(देश देशान्तरों में प्रचारित, उच्च कोटि का आध्यात्मिक मासिक-पत्र)

वार्षिक मू० २।) सन्देश नहीं मैं स्वर्ग लोक का लाई। एक अङ्क का ।)
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आई ॥

सम्पादक—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, सहा० सम्पादक—प्रो० रामचरण महेन्द्र एम०

वर्ष ६] मथुरा, १ नवम्बर सन् १९४८ ई० [अंक

बुद्धिमानो ! मूर्ख क्यों बनते हो ?

मनुष्य की बुद्धिमत्ता प्रसिद्ध है। उसकी चतुरता, क्रिया कुशलता और सोचने की अद्भुत शक्ति की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही कम है, सृष्टि का मुकुटमणि होने का गौरव उसने अपनी बुद्धिमता के बल पर प्राप्त किया है और विविधि दिशाओं में अनेकानेक आविष्कार करके अपने को साधन सम्पन्न बनाया है। इतना होते हुए भी हम देखते हैं कि मनुष्य में मूर्खताकी मात्रा कम नहीं है

हम नित्य असंख्यों को मरते हुए देखते हैं पर अपने आपको अमर जैसा अनुभव करके काम और लोभ के फंदे में फँसे रहते हैं। पाप के दुष्परिणामों से असंख्यों प्राणी दुख से बिलबिलाते हुए देखे जाते हैं उन्हें देखते हुए भी हम पाप करते हैं और सोचते हैं कि पाप के फल से मिलने वाले दुख से बचे रहेंगे। क्षणिक सुखों के बदले चिर-कालीन सुख शान्ति को ठुकराते रहने वालों की संख्या कम नहीं है। इन क्रिया-कलापों को किस प्रकार बुद्धिमानी कहा जायगा ?

सांसारिक मनोरंजन की बातों में बुद्धिमानी दिखाना और आत्म स्वार्थ को भूले रहना यह कहां की समझदारी है ? पाठको ! मूर्ख मत बनो। मनुष्योचित बुद्धिमत्ता को अपनाओ। खिलौने रंगने के लिए अपना रक्त मत बहाओ, सच्चे स्वार्थ को ढूँढो और परमार्थ की ओर कदम बढ़ाओ।

'अखण्ड ज्योति' का अमूल्य 'स्वास्थ्य अंक'

१ जनवरी सन् १९४९ को प्रकाशित होगा।

स्वास्थ्य का महत्व समझने वालों के लिए यह "पारसमणि" से कम मूल्यवान नहीं।

शास्त्रों ने धर्म अर्थ काम मोक्ष का मूल आरोग्य को माना है। जिसका स्वास्थ्य ठीक है वही धर्म कर सकता है वही धन कमा सकता है, वही विषय भोगों का आनन्द ले सकता है और वही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। जो मनुष्य अस्वस्थता ग्रस्त है, बीमारी से परेशान है, निर्बल दुर्बल होरहा है उसके लिए अपने शरीर को चलाना ही एक पहाड़ को उठाने के बराबर श्रम साध्य है वह बेचारा अन्य पुरुषार्थों को भला कैसे कर सकेगा? और बिना पुरुषार्थ के जीवन की कोई विभूति कैसे प्राप्त होसकेगी? देखा जाता है कि अस्वस्थ मनुष्यों का जीवन प्रायः निष्फल ही जाता है, वे किसी प्रकार अपनी सांसें तो पूरी कर लेते हैं पर उनके लिए यह कठिन है कि कोई महत्व पूर्ण कार्य करके अपने को प्रकाशित करें या सुख शान्ति मय जीवन बितावें।

जीवन की अन्य सब आवश्यकताओं में स्वस्थ रहने की आवश्यकता का स्थान सर्वोपरि है। परन्तु हम देखते हैं कि आज अधिकांश व्यक्तियों का स्वास्थ्य बुरी तरह बिगड़ रहा है हड्डी की ठठरी पर चमड़ी का खोल लपेटे हुए मानव प्राणी चलते फिरते दिखाई पड़ते हैं पर उनकी भीतरी स्थिति बिलकुल खोखली होरही है। भीतर ही भीतर कितने ही घुन लग कर उनकी जीवनी शक्ति को चाटे जारहे हैं। आये दिन नये नये किस्म के रोग उन्हें घेरे रहते हैं एक से छुटकारा नहीं मिल पाता कि दूसरा उन्हें धर दबोचता है। बीमारी के एक छोटे धक्के से उठकर सँभलने में महीनों लग जाते हैं, इन्द्रियां असमय में ही अपना काम छोड़ देती हैं, अकालमृत्यु का दानव शिर पर नंगी तलवार लिये घूमता रहता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए धन की नहीं, स्कूल कालेजों की पढ़ाई की नहीं, ऐश आराम की नहीं, ख्याति वैभव की नहीं, सबसे अधिक आवश्यकता आरोग्य प्राप्त करने की है।

इस आरोग्य संपदा से पाठकों को सम्पन्न बनाने के लिए, बीमारियों के बन्धन से छुड़ाने के लिए, स्वास्थ्य को सुदृढ़ और चिरस्थायी बनाने के लिए "अखण्ड ज्योति" ने एक महत्व पूर्ण प्रयास करने का निश्चय किया है। वह निश्चय है—इसी जनवरी में, "स्वास्थ्य अंक" का प्रकाशन। इस अंक के सम्पादक होंगे, स्वास्थ्य विद्या के आचार्य प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए० डी, लिट्, पी० एच० डी०।

इस अंक में कोई ऐसी बात छूटने न पावेगी जो स्वास्थ्य की प्राप्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक है। कमजोरी और बीमारी की ऐसी विवेचना की जावेगी जिससे यह भली प्रकार समझ में आजावेगा कि अस्वस्थता के वास्तविक कारण क्या हैं? साथ ही स्वस्थ रहने के विज्ञान सम्मत नियमों को नये दृष्टि कोण से उपस्थित किया जायगा। बीमारियों की सर्व सुलभ, प्राकृतिक एवं योग शास्त्र सम्मत ऐसी चिकित्सा विधियां बताई जावेंगी। जिनके द्वारा हर प्रकार के रोगों से छुटकारा पाकर स्वस्थ जीवन बिताना नितान्त सरल और संभव होगा।

"स्वास्थ्य अंक" एक अमूल्य निधि होगी। जिन्हें अपने, अपने प्रिय जनों के, स्वास्थ्य से कुछ भी ममता है उनके लिए यह अंक, जीवन मूरि की तरह उपयोगी होगा। १ जनवरी सन् १९४९ को यह अंक प्रकाशित होगा। पृष्ठ संख्या तो साधारण अंकसे ड्योढ़ी ही होगी। पर पाठ्य सामिग्री ऐसी अमूल्य होगी कि उसे "गागर में सागर भरना" कहा जासकेगा। इस अमूल्य "स्वास्थ्य अंक" को प्राप्त करने के लिए १ जनवरी की सांस रोक कर प्रतीक्षा कीजिए।

—व्यवस्थापक 'अखंडज्योति' मथुरा।

मथुरा, १ नवम्बर सन् १९४८ ई०

हमारी दुर्बलता का कारण।

मनुष्य जब निराश हो जाता है तो उसे तब सबसे अधिक अपनी कमजोरी और अपनी हीनता ही दिखाई देती है। कमजोरी और हीनता का दिखाई देना तो बुरा नहीं है पर उन सबको अपने सिर थोपे रहना, मानव को उसकी वास्तविकता से दूर कर देता है। निराशा में यदि स्फूर्ति होती है तो वह उन अवास्तविक तत्वों को दूर करने की ओर प्रवृत्त होता है पर यदि स्फूर्ति न हुई और अवसाद से घिर गया तो ये समस्त अवास्तविक कल्पनायें उसे ग्रस जाने के लिए तत्पर रहती हैं।

संसार में न तो पाप हैं और न पुण्य। पाप-पुण्य की सृष्टि तो व्यक्ति स्वयं ही करता है। जो जितना अवास्तविकता की ओर चलता है उसे उतना ही पाप दिखाई देता है और फिर वह सब उसके जीवन में समाता हुआ चला जाता है। इसी प्रकार जो जितना वास्तविकता की ओर चलता है वह पाप से अर्थात् अवास्तविकता से दूर हटता जाता है। वस्तुतः आत्मतत्व की विलगता ही पाप है। परन्तु वह एक कल्पना मात्र है। जीवन के प्रत्येक क्षण में आत्मतत्व झलकता रहता है और जब जब वह उदित होता है, और उस पर आवरण डालने का प्रयत्न किया जाता है तभी तभी उससे दूर हट जाने की नौबत आजाती है।

दुर्बलता का दूसरा नाम ही अभाव है। जहां भाव ही भाव है वहां अभाव की सत्ता हो ही कैसे सकती है। अभाव लक्षित होता है कब? जब हम भाव की ओर से पीठ फेर कर खड़े हो जाते हैं। यही आत्म विस्मृति कहलाती है। आत्मा अपने आपको कभी भूल सकता ही नहीं है तब आत्म विस्मृति कैसी? स्वयं में अपने आपको भूलने का गुण न होते हुए उसे मूर्छित करके भुलावे में डालने का प्रयत्न तो किया ही जाता है। जैसे २ आत्मा की मूर्च्छना बढ़ाई जाती है वैसे २ ही आत्म विस्मृति बढ़ती जाती है। और यही कारण है कि व्यक्ति अपनी वास्तविक शक्ति को स्थिर रख नहीं पाता। चारों ओर भूला-भटका डोलता है और अपने लिए दैन्य और निराशा का खोल तैयार करता रहता है। मन एवं प्राण में अनेक भ्रमात्मक धारणायें भरती हैं और व्यक्ति असत्--विनाश की ओर अग्रसर होता रहता है।

स्वरूप का अज्ञान ही वास्तव में मानव की विपत्ति का घर है, दुर्बलता का उत्पादक है। अज्ञान में तामसिकता रहती है, जड़ता रहती है। पत्थर जड़ है। चेतना सम्पूर्ण रूप से मूर्छित है। मनुष्य जब सो जाता है तब चेतना मूर्छित रहती है। बाह्य जगत में चारों ओर अज्ञान छाया रहता है। वास्तव में अज्ञान कोई वस्तु या तत्व थोड़े ही है। सुषुप्तज्ञान ही अज्ञान कहा जाता है। ज्ञान का नाश नहीं होता। इसलिए ज्ञान का जागरण दुर्बलता को हटाने की कुञ्जी है।

आत्मा पूर्ण है, आनन्द मय है, इसलिए अभाव के लिए उसमें गुंजाइश है ही नहीं। जो व्यक्ति आत्मनिष्ठ होते हैं उनमें पूर्णता भरी रहती है वे तो नित्य ही शान्ति का अनुभव करते हैं। अनुभवी ऋषि कहते हैं--

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा--
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।

जो अपने को आत्मा में स्थित देखता है उसी को शाश्वत शान्ति मिलती है।

कौन देख सकता है अपने को आत्मा में स्थित? जो कि आत्मा को जानता है और जो अपने को आत्मा के प्रति खुला रखता है। आत्मा की ओर का दरवाज़ा बन्द कर जो विपरीत दिशा की ओर उसे खुला रखता है उसे आत्मा का साक्षात्कार कैसे हो सकता है। उसे जिस वस्तु का साक्षात्कार होता है वह है अभाव, वह है अज्ञान।

जिसे भूल गये हैं उसी की जानकारी तो ज्ञान है। भूलने को ही अज्ञान कहते हैं। आत्मतत्त्व को भूलकर--'स्व' को छोड़कर जब व्यक्ति अपनी दृष्टि बाहर की ओर ले जाता है, और बाहर सर्वत्र उसे विजातीयता का भान होता है तो वहां वह अभाव का अनुभव करता है। वह अपने को उस अभाव का ही बना समझने लगता है। वह भूल जाता है कि आत्म तत्व का विस्तार ही बाह्य जगत है जो अन्दर है उसका कुछ अंश ही बाहर है। यह भूल ही उसका अज्ञान है।

चतुर्विध पुरुषार्थ की सृष्टि का मुख्य हेतु अज्ञान को खत्म करना है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ गिने जाते हैं। जब अज्ञान का साम्राज्य होता है तब अर्थ और काम का ही बोलबाला होता है। अर्थ का अभाव और काम की व्यापकता मानव में दैन्यता का संचार करती है। व्यक्ति की आवश्यकतायें बढ़ने लगती हैं, वासनायें बढ़ने लगती हैं उन सबको प्राप्त करना या चरितार्थ करना व्यक्ति अपनी सामर्थ के बाहर समझता है। निराशा उसके चारों ओर फैल जाती है। दीनता बढ़ जाती है। यदि उसमें स्मृति रहे, ज्ञान रहे तो वह अपने पहले साथी को—प्रथम पुरुषार्थ को भी अपने साथ रखता है। वह अर्थ और काम में धर्म को साझीदार बनाये रखता है। उसका कोई कार्य धर्म के स्पर्श के बिना नहीं होता। तब अर्थ और काम उस पर हावी नहीं होते बल्कि इनमें भी वह आत्म-ज्योति को व्याप्त करता हुआ अन्तिम पुरुषार्थ की ओर कदम बढ़ाता है इस समय वह इनका नियन्ता होता है वह इनका उपभोक्ता होता है, भोग नहीं।

धर्म का साथ छोड़ देने पर व्यक्ति अर्थ और काम के शिकार हो जाते हैं। इसलिए कहा जाता है कि धर्म मानव को अज्ञान से दूर रखता है। वह आत्म ज्ञान को न सिर्फ जागृत रखता है बल्कि कदम कदम पर उसका साक्षात्कार कराता चलता है। संसार का एक भी दृश्य ऐसा नहीं होता जिसमें व्यक्ति अपनी पूर्णता, सम्पन्नता का दर्शन न करे बल्कि इसकी उच्चावस्था मनुष्य को यह मानने के लिए बाध्य कर देती है कि यह सब उसी का विस्तार है उस अपने से ही बनाई हुई इस दुनियां में अवगाहन करता हुआ भी वह उसमें लिप्त नहीं होता और उसे चतुर्थ पुरुषार्थ को सिद्धि मिलजाती है। तब वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है।

अज्ञान साम्राज्य के कारण मानव भोग में लिप्त हो जाता है। मानव समझता है कि वह उनका भोग कर रहा है पर होता ऐसा नहीं है, भोग स्वयं ही उस मानव का भोग करते हैं, यहां तक वे उसे अपने अधीन कर लेते हैं कि उनका अभाव अनुभव होते ही मनुष्य का जिन्दा रहना भी दूभर होजाता है। प्रत्येक मानव रात दिन इसका अनुभव करता है। पर वह यह भूला रहता है कि इसका कारण भोग के अधीन होना है, धर्म के आश्रय को छोड़ देना है।

धर्म का तात्विक अर्थ ही है—धारण करना। धारण करना किसका? आत्मभाव का। अर्थ और काम बाह्य जगत का रूप है। बाह्य जगत में रहते हुए आत्म भाव को किस प्रकार धारण किये रह सकते हैं धर्म साधना से इस पद्धति का ज्ञान रहता है और वह व्यक्ति—

तरति शोकं तरति पापानं
गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।

शोक से तर जाता है, पाप से तर जाता है हृदय प्रविष्ट अज्ञान रूपी ग्रन्थि से मुक्त होकर आत्म भाव को प्राप्त हो जाता है, अमृत होजाता है।

तात्पर्य यही है कि आत्म भाव से हटते ही अर्थ और काम की प्रधानता होने पर मानव चारों ओर से दुःख और शोक से घिर जाता है इसलिए उससे बचने का उपाय धर्म की ओर अपने आप को खोल देना है अर्थात् आत्म तत्व को अपने अन्दर बसा लेना है। बसा लेना नहीं, क्यों कि वह बसा हुआ तो है ही, जागृत कर लेना है। बाहर भीतर ऊपर नीचे चारों ओर उसी का दर्शन करना है। आत्म तत्व का दर्शन करना निरन्तर आत्मा में ही वास रखना मानव की अभाव जनित समस्त दुर्बलताओं को मार भगाता है। वह बली होजाता है और जगह २ आत्म विस्तार करता हुआ वह अपने आस पास के दुर्बलों को भी सबल बनाता हुआ अपनी जीवन लीला का संचालन करता है।

साधना की अनुकूलता—

(श्री अरविन्द)

साधना के समय साधक को साहस और धैर्य रखने की आवश्यकता है। सिद्धि मिलने में कितना भी समय क्यों न लगे साधक को घबड़ाना नहीं चाहिए। यहां तक कि यदि सिद्धि मिलने के पहले कोई अनर्थकारी घटना भी घट जावे तब भी घबराकर अपनी साधना नहीं छोड़ देनी चाहिए। भगवान सर्वशक्ति-मान् है, इसलिए वे कितने ही भयंकर गड्ढे में चाहे क्यों न फेंकदें फिर भी किसी न किसी दिन वे हमारा वहां से अवश्य उद्धार करेंगे यह निश्चित है।

साधक के लिए उत्तेजना और व्याकुलता भी छोड़ने जैसी है। कभी कभी साधक को दिखाई देता है जैसे कि वह सिद्धि के क्षेत्र में बहुत दूर पहुंच गया है, और कभी भी पीछे मालूम होने लगता है कि वह जहां का तहां है तिलमात्र भी आगे नहीं बढ़ा ऐसे ही अवसरों पर उत्तेजना या घबड़ाहट आजाती है। लेकिन जिन लोगों का आत्मसमर्पण कावत सम्पन्न हो चुका होता है वे इन सबसे मुक्त रहते हुए निश्चिन्त और सन्तुष्ट रहते हैं। और इसीलिए उन्हें सिद्धि भी शीघ्र ही प्राप्त होती है।

यद्यपि साधना का काम अत्यन्त कठिन है पर जो आरंभ में दृढ़ विश्वास के साथ अग्रसर होते हैं उनके लिए यह मार्ग अत्यन्त सरल हो जाता है। क्यों कि दृढ़ता होने पर मनुष्य की प्रकृति साधना के अनुकूल हो जाती है और साधना की अनुकूलता ही सिद्धि प्राप्ति का साधन है।

साधक की दो विपत्तियां।

(श्री अरविन्द)

तमोगुण की प्रधानता रखने वाला व्यक्ति दो प्रकार की विपत्तियों में फँस सकता है। पहली विपत्ति है अपने को हीन समझना—मैं दुर्बल हूं पापी हूं, घृणित हूं, अज्ञानी हूं, अकर्मण्य हूं आदि भावनायें उठने से वह समझने लगता है कि मैं सबसे नीच हूं, भगवान को हमारी आवश्यकता नहीं। या भगवान मुझ जैसे नीच का कैसे उद्धार कर सकते हैं, ऐसा मालूम होता है कि सोचने वाला भगवान की शक्ति को सीमित मानता है और भगवान गूंगे को बोलने की शक्ति

तथा लंगड़े को चलने की शक्ति दे देते हैं यह बात असत्य समझता है। दूसरी विपत्ति है जरा सी सिद्धि पा जाने पर साधना से मुँह मोड़ लेना और प्राप्त सिद्धि को सब कुछ समझ कर उसी के भोग में लग जाना। साधना की ये दोनों ही विपत्तियां विघ्न हैं। इसलिए साधक को सदा इस बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है कि वह भी भगवान का अंश है और भगवती महा-माया आदि शक्ति उसके अन्तरतल में बैठी हुई उसका संचालन कर रही है। सर्व शक्तिमान् भगवान की लीला तरह तरह की होती है इस लिए किसी एक लीला के अधीन होकर चुपचाप बैठे रहना साधक के लिए उचित नहीं है। यह तो उसके अहंकार की विद्यमानता का फल है जब तक अहंकार रहता है तब तक वास्तविक धारणा का उत्पन्न होना ही सम्भव नहीं है इस लिए अहंभाव को निर्मूल कर देने पर ही साधक इन विपत्तियों से बच सकता है।

जीवन के तीन तत्व।

(आचार्य-विनोबा)

जीवन के मुख्य तीन तत्व हैं, जिनमें पहला है उद्योग, दूसरी है भक्ति और तीसरा है सीखना-सिखाना। उद्योग की कमी के कारण ही देश में आलस्य भर गया है, आलस्य से बेकारी आई है। पढ़े लिखे लोगों ने उद्योग से मुँह मोड़ लिया है। इस लिए वे सुखी नहीं है। जहां उद्योग नहीं वहां सुख कैसा? उद्योग न होने के कारण घुन लग जाता है। उससे भारी हानि होती है। इससे जिस घर में उद्योग की शिक्षा नहीं दी जाती उस घर का जल्दी ही नाश हो जाता है। इस संसार में मुझे जो भी कोई मिला है उसने अपनी दुःख की ही कहानी सुनाई है, मालूम होता है सारा संसार दुःख से ही भरा हुआ है लेकिन जो लोग उद्योगी हैं वे इस दुःख की दुनियां में सुख का रस लेते हैं। 'हीरे' नामक एक कविने अपने काव्य में एक दुःखिनी स्त्री का चित्र खींचा है, उस स्त्री ने तकली से उद्योग की शरण ली उससे उसे बहुत कुछ सान्त्वना मिली। खाली बैठना ही बहुत से दुःखों को जन्म देना है इस लिए कुछ न कुछ करते रहने से मनुष्य व्यर्थ के अनेकों दुःखों से छुटकारा पा लेता है। इसलिए हमें उद्योग की ओर बढ़ना चाहिए।

दूसरा है भक्ति, मैंने इसकी शिक्षा अपनी माता से ली, आगे चलकर तो दोनों समय प्रार्थना करने की आदत पड़ जाने से इस भक्ति का संचार मेरे अन्दर खूब हुआ। लेकिन भक्ति का मतलब ढोंग नहीं है। जो उद्योग नहीं करता करता वह भक्ति कर ही नहीं सकता। भक्ति तो उद्योग में ही मिलती है। अपने उद्योग में ही भग-वान को देखना, भगवान के उद्देश्य से ही काम करना, नित्य भगवान के सम्पर्क का उद्योग द्वारा अनुभव करना इसीसे भक्तिका साक्षात्कार होता है। दिन भर झूठ बोल कर, लबारी-लफारी करके न प्रार्थना की जासकती है न भक्ति, जो कुछ किया जा सकता है वह तो ढोंग है। सत्कर्म करके, दिन सेवा में बिताकर सायंकाल वह सारी सेवा भगवान के अर्पण करनी चाहिए भगवान हमारे हाथ से हुए अनजान पापों को क्षमा करते हैं। जानते में यदि पाप बन आवें तो उसका प्रायश्चित करना चाहिए। पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। ऐसों के पाप भगवान क्षमा कर देते हैं। सबको लड़कों बच्चों, स्त्रियों, पुरुषों को मिलकर नित्य प्रार्थना करनी चाहिए। जहाँ भगवान की सच्चे दिल से प्रार्थना होती है वहाँ

समाधान अवश्य रहते हैं। लेकिन उद्योग छोड़कर भक्ति के पीछे पड़ने से भक्ति का फल नहीं मिलता बल्कि वह ढोंग ही हो जाती है।

तीसरा है—खूब सीखना, खूब सिखाना। जिसे जिसकी जानकारी है उसकी जानकारी वह दूसरों को दे और जो वह नहीं जानता है उसे दूसरों से सीखे और सीखने की जिज्ञासा रखे। भजन सिखावे, गीता सिखावे, तात्पर्य यह कि कुछ न कुछ जरूर सिखावे। अनेक प्रकार के उद्योग चलें। इसमें एक-आध घण्टा जरूर सिखाना चाहिए और सीखना चाहिए। सीखने-सिखाने की इस वृत्ति से आदमी का जीवन सार्थक होता है।

सत्य धर्म को समझो और अपनाओ।

(श्री शिवनारायणजी गौड़, नीमच)

धर्म रूढ़ियों में नहीं है—धर्म आचरण में है। नाम और रूप की बाह्य उपाधियां धर्म को छिपाये बैठी हैं, शब्दाडम्बर धर्म को आवृत किये हुए है, और भिन्न विचार धारा धर्म को छिन्न भिन्न किये हुए है। अब तो हम एक बार धर्म को समझ लेने का प्रयास करें। यदि हमने धर्म को निष्क्रिय हो जाने दिया, यदि हमने झूठे धर्म को सच्चा मानकर आचरण किया और अपने से भिन्न विचार वालों का व्यर्थ ही विरोध किया तो हमारी धार्मिकता कहां रहेगी, इसका विचार हमें करना पड़ेगा।

हम में से प्रत्येक की आंखों पर एक या एक से अधिक उपनेत्र (चश्मा) लगा हुआ है। और प्रत्येक उपनेत्र में रंगीन कांच है। वस्तु की सफेदी हम देख ही नहीं सकते। सत्य का सूर्य ही इन रंगीनियों को एक वर्ण (श्वेत) कर सकता है, पर इतना साहस हो, तब न। सत्य की चकाचौंध हमें विचलित कर देती है और हम घर के कोने में ही काल्पनिक सूर्य की विच्छिन्न किरणों का अनुमान करते बैठे रहते हैं।

यदि ऐसा न होता तो हम धर्म को ऊपर ही ऊपर टटोलते क्यों रहते? इसीसे तो एक ओर साम्प्रदायिकता को धर्म समझ लेते हैं और दूसरी ओर धर्म का तत्व आडम्बर में ढूँढने लगते हैं। आज हमारा धर्म या तो पुस्तकों में है या नारों में। सच्चा धर्म जो हृदय की वस्तु है कहीं दिखाई नहीं देता।

मेरा कथन कटुतम लग सकता है पर सत्य इससे भी अधिक कटु है। ऊपर ही ऊपर घूमने वाली हमारी दृष्टि सत्य से घबराती है, तभी त हम वास्तविकता से आंखें मूंद कर नारों से का लेने लगते हैं। धर्म का प्रतिपादन करते सम कितनी बार हमारी दृष्टि प्रत्यक्ष पर जाती है धर्म का अक्षरशः पालन करने वाले हम समा पर एक दृष्टि डालें तो प्रकट हो जाता है कि धर्म का स्थान रूढ़ियों ने लेलिया है।

अन्त में एक चिंता और चिन्तनीय विष हमारे सामने बच रहता है धर्म की तात्विकत या वास्तविकता का। धर्म के व्यापक विचा को छोड़ कर उसके दो पहलुओं पर हम विचा करलें। पहला है उसका श्रद्धापक्ष और दूसर आधारपक्ष। श्रद्धा की दृष्टि से किसी को इ बात में अपवाद नहीं मिल सकता कि प्रत्येक ध या सम्प्रदाय में ईश्वर या पैगम्बर या व्यक्ति विशेष पर श्रद्धा आधारित रहती है और नाम या व्यक्तिगत गुणों की भिन्नता रहने भी इ अंश को कोई भिन्नता के कारण अधार्मिक न मानता।

दूसरा पहलू नैतिकता का है। सदाचार प प्रत्येक धर्म जोर देता है और कुछ मौलिक

सद्गुण प्रत्येक धर्म में प्रतिपात मिलते हैं इसमें भी किसी को विरोध का कारण नहीं दिखाई पड़ता।

परन्तु धर्म का एक तीसरा पहलू भी है। जो धर्म की वास्तविकता न होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार रूप की भिन्नता में वास्तविकता छिप जाया करती है, उसी प्रकार लुप्त इन बाह्याचारों में धर्म की मर्यादा सी हो जाती है और यहीं हमें अपने प्रचार का, अपने विरोध का, या अपने मिथ्यारोपों का क्षेत्र मिलता है।

कुछ उदाहरण लें। एक आदमी चोटी रखता है दूसरा नहीं रखता। एक की दाढ़ी मूछों का कीर्तन विशेष प्रकार का होता है दूसरे का भिन्न प्रकार का। एक मौन या शांत प्रार्थना करता है दूसरा चिल्ला कर। एक अमुक ढंग से बोलता है दूसरा दूसरे से। एक का अमुक तीर्थ स्थान है दूसरे का अमुक। ऐसी ही कुछ बातें अग्रभूमि में आ आकर हमारी आंखों में भिन्नता, विरोध और घृणा तक होते होते शत्रुता तक पहुंचा देती हैं। धर्म को हम भूल जाते हैं और इन आरोपों को चिपटाये रखने में ही अपनी धार्मिकता मानने लगते हैं। अपनी ओर से धर्म का पालन न करते हुए भी हम धार्मिक बने रह सकते हैं पर दूसरे के ऐसे उपदेश को हम नहीं सुन सकते। हम तो जन्म से ही प्रत्येक बात को मानते हैं, और अमुक जाति में जन्म ले लेने से हमारी धार्मिकता तो स्वयं—सिद्ध हो ही जाती है, चाहे हम धर्म का पालन करें या नहीं। संस्कृति का दावा हम जोरों से करते हैं पर आत्मसंस्कार की हमें चिंता ही नहीं रहती। और यह होता है केवल इसलिए कि हममें से प्रत्येक अपनी धार्मिकता को स्वतःसिद्ध मानकर चलता है। यदि हम थोड़ी भी अन्तर्दृष्टि करलें तो ज्ञात होगा कि जिसे हम अपनी धार्मिकता मानते हैं वह तो हमारा अभिमान है। हमारे भय के विचार भूत बन जाया करते हैं, उसी प्रकार हमारी धार्मिक असहनशीलता धर्म का रूप धर कर हमारे मन्दिरों या नारों में आकर बैठ जाती है और उसी की पूजा-आराधना हम किया करते हैं। परन्तु देव के स्थान में दानव की—उपासना करने वाला क्या कभी फलीभूत हो सकता है? हमें बाहर से धर्म के नाश का डर लगा रहता है क्यों कि हमारे अन्दर कुछ भी नहीं है। जो घड़ा अन्दर से कच्चा है उसको बाहर का हलका सा धक्का चूर चूर कर देगा, परन्तु हवा भरे हुए ब्लेडर को भारी दबाव (सीमित) भी नष्ट नहीं कर सकता। हमारी आन्तरिक निर्बलता भय का रूप धारण किये हुए है और हम बाहरी शक्ति से अपना बचाव करना चाहते हैं। बुद्ध को धर्म प्रचार के लिए सेना की आवश्यकता नहीं पड़ी थी, न महावीर, शंकर या नानक को, परन्तु हमारा धर्म इतना निर्बल हो गया है कि हम तहखानों में छिपकर भी त्राण की आशा नहीं कर सकते। निश्चय ही हमारी धार्मिकता में कहीं त्रुटि है, अन्यथा चीन में हिन्दू (बौद्ध) धर्म असहाय नहीं, वर्मा व लंका में नहीं, पर भारत में बन गया है। यह सब हुआ है हमारी आंतरिक निर्बलता के कारण—संख्या की नहीं आत्मिक। हमने धर्माचरण छोड़ दिया और अहङ्कार को विजय प्राप्त करने का अवसर देते रहे। धर्म की ओर न देखकर हमने धार्मिकता की ओर देखा, धर्माचरण की ओर न देखकर हमने धर्मग्रंथों पर ही दृष्टि रखी, और धर्म के तत्व पर विचार न करके फुटकर धार्मिक कृत्यों पर ध्यान दिया। यदि हमने सच्चा धर्म अपनाया होता तो संसार की कोई भी शक्ति हमारे धर्म को नष्ट नहीं कर सकती थी! धर्म ऐसी वस्तु नहीं जो शक्ति से नष्ट हो सके, धर्म-ऐसा पदार्थ नहीं जो अधिक जनशक्ति से पराजित हो जाय। धर्म ऐसी छुई-मुई नहीं जो आलोचना या बुद्धिपरता से मुरझा जाय।

पर हमारे लिए तो धर्म आज भी—लज्जालु गृहवधू बना हुआ है जिसे हम बाहर की हवा

भी लगने देना नहीं चाहते, जिसे बुद्धि की कसौटी पर कसना सबसे बड़ा अपराध समझते और मेल के लिए आगे बढ़ाना बलात्कार मानते हैं। हम भूल गये कि धर्म हमारी रक्षा करता है, हमारा धर्म की रक्षा का दावा करना या तो शब्द प्रयोग मात्र है या मिथ्याभिमान। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' में रक्षित का अर्थ लाठी से रक्षित न होकर व्यवहारतः आचरित से है। धर्म का रक्षण उसका आचरण ही है और तभी वह हमारी रक्षा करता है। लाठी से रक्षित धर्म केवल धोखा है, स्वत, धर्म के साथ विश्वास घात है।

जब हम बल से किसी को गुलाम नहीं रख सकते तो बल से धर्म को लाद सकना तो और असम्भव है। धर्म आत्मा का गुण है और आत्मा किसी भी बंधन से परे हैं। न तो बल से धर्म प्रचारित होता है न शक्ति किसी को धार्मिक ही बना सकती है। वर्षों से चले आते दण्ड-विधान आज तक सम्पूर्ण जनता को निर्दोष न बना सके, परन्तु प्रेम से प्रचारित बौद्ध-धर्म आज भी दूर दूर विस्तृत है।

अन्ततः, अमृत की सन्तान! तुम्हें एक ही कार्य करना है और वह है वास्तविक धर्म को समझ कर उसके अनुसार आचरण करना। वास्तविक धर्म यदि कोई हो सकता है तो वह है सत्य, प्रेम, दया, मानवता। शब्दों को संक्षिप्त करना हो तो हम कई धार्मिक तत्त्वों को दो में सन्निहित कर सकते हैं, वे हैं सत्य और अहिंसा— यही मानवता है, यही मानवधर्म है, विश्व-बंधुत्व है और विचार करने पर मनु-प्रतिपादित दश लाक्षणिक धर्म :—

'धृतिः क्षमा दयोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥'

सत्य और अहिंसा या मानवता के अतिरिक्त और क्या है? अमृत-संतान? सत्य-धर्म को समझो और उसी का आचरण करो।

सत्कार्यों की कसौटी—सदुद्देश्य।

श्रेष्ठ कार्य वह है—जो श्रेष्ठ उद्देश्य के लिए किया जाता है। उत्तम कार्यों की क्रिया प्रणाली भी प्रायः उत्तम ही उत्तम होती है। दूसरों की सेवा या सहायता करनी है तो प्रायः उसके लिए मधुर भाषण, नम्रता, दान, उपहार आदि द्वारा ही उसे सन्तुष्ट किया जाता है। परन्तु कई बार इसके विपरीत अवसर भी आते हैं। कई बार ऐसी स्थिति सामने आती है कि सदुद्देश्य होते हुए भी—भावनाएं उच्च, श्रेष्ठ और सात्विक होते हुए भी क्रिया प्रणाली ऐसी कठोर तीक्ष्ण एवं कटु बनानी पड़ती है जिससे लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि कहीं यह सब दुर्भाव से प्रेरित होकर तो नहीं किया गया। ऐसे अवसरों पर वास्तविकता का निर्णय करने में बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है।

सीधे-साधे अवसरों पर सीधी साधी प्रणाली से भली प्रकार काम चल जाता है। किसी भूखे प्यासे को सहायता करनी है तो वह कार्य अन्न जल दे देने के के सीधे साधे तरीके से पूरा हो सकता है। इसी प्रकार किसी दुखित या अभाव ग्रस्त को अभीष्ट वस्तुएं देकर उसकी सेवा की जासकती है। धर्मशाला, कुआ, बावड़ी, बगीचा पाठशाला, गौशाला, अनाथालय, औषधालय, क्षेत्र, सदावर्त, प्याऊ आदि के द्वारा लोक सेवा की जाती है और यज्ञ, कथा, कीर्तन, सत्संग, उपदेश, सत्साहित्य आदि द्वारा जनहित किया जाता है। ऐसे कार्य निश्चय ही श्रेष्ठ हैं और उनकी आवश्यकता एवं उपयोगिता सर्वत्र स्वीकार की जाती है।

पर कई बार इस प्रकार की भी सेवा की पड़ी आवश्यकता होती है जो प्रत्यक्ष में बुराई मालूम पड़ती है और उसके करने वाले में अपयश ओढ़ना पड़ता है। इस मार्ग को अपनाने का साहस हर किसी में नहीं होता, विरले ही बहादुर इस प्रकार की दुस्साहस पूर्ण सेवा करने को तैयार होते हैं। दुष्ट और अज्ञानियों को उस कुमार्ग से छुड़ाना—जिस पर कि वे बड़ी ममता और अहंकार के साथ प्रवृत्त होरहे हैं—कोई साधारण काम नहीं हैं। सीधे आदमी सीधे तरीके से मान जाते हैं, उनकी भूल ज्ञान से, तर्क से, समझाने से सुधर जाती है पर जिनकी मनोभूमि अज्ञानान्धकार से कलुषित होरही और साथ ही जिनके पास कुछ शक्ति भी है वे ऐसे मदान्ध होजाते हैं कि सीधी साधी क्रिया प्रणाली का उन पर प्रायः कुछ भी असर नहीं होता।

मनुष्य शरीर धारण करने पर भी जिनमें पशुत्व की प्रबलता और प्रधानता है ऐसे प्राणियों की कमी नहीं है। ऐसे प्राणी सज्जनता साधुता और सात्विकता का कुछ भी मूल्यांकन नहीं करते। ज्ञान से, तर्क से, नम्रता से, सज्जनता से, सहनशीलता से उन्हें अनीति के दुखदायी मार्ग पर से पीछे नहीं हटाया जा सकता। पशु समझाने से नहीं मानता। उससे कितनी ही प्रार्थना की जाय, शिक्षा दी जाय, उदारता बरती जाय वह इससे कुछ भी प्रभावित न होगा और न अपनी कुचाल छोड़ेगा। पशु केवल दो चीजें पहचानता है एक लोभ दूसरा भय। दाना, घास दिखाते हुए उसे ललचा कर कहीं भी लेजाइए वह आपके पीछे पीछे चलेगा, या फिर लाठी का डर दिखाकर जिधर चाहें उधर ले जाया जा सकता है। भय या लोभ के द्वारा अज्ञानियों को, कुमार्ग गामियों को, पशुओं को, कुमार्ग से विरत और सन्मार्ग में प्रवृत्त कराया जासकता है।

भय उत्पन्न करने के लिए दंड का आश्रय लिया जाता है, लोभ के लिए कोई ऐसा आकर्षण उसके सामने उपस्थित करना पड़ता है जो उसके लिए आज की अपेक्षा भी अधिक सुखदायी प्रतीत हो। इसी प्रकार उसके सामने कोई ऐसा डर उपस्थित कर दिया जाय जिससे वह घबरा जाय और अपने ऊपर इतनी भयंकर विपत्ति आती हुई अनुभव करे कि उसकी तुलना में अपनी वर्तमान कुटेवों को छोड़ना उसे लाभदायक मालूम पड़े तो वह उसे छोड़ सकता है। नशेबाजी, व्यभिचार आदि बुराइयों के दुष्परिणामों का बढ़ा चढ़ा कर बताकर कई बार उस ओर चलने वालों को इतना डरा दिया जाता है कि वे उसे स्वयमेव छोड़ देते हैं। इस प्रकार के अत्युक्ति पूर्ण वर्णनों में यद्यपि असत्य का अंश रहता है पर वह इसलिए बुरा नहीं समझा जाता क्योंकि उसका प्रयोग सदुद्देश्य से किया गया है। इसी प्रकार किन्हीं सत्कार्यों का लाभ अत्युक्ति पूर्ण रीति से बढ़ाचढ़ा कर बताया जाय तो उसमें कुछ दोष नहीं होता कारण कि—बाल बुद्धि लोगों को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए उस अत्युक्ति का आश्रय लिया गया है। गंगा स्नान, तीर्थ यात्रा, ब्रह्मचर्य, दान आदि के अत्युक्ति पूर्ण महात्म्य हमारे धर्मग्रन्थों में भरे पड़े हैं। उन्हें असत्य ठहराने का दुस्साहस कोई विचारवान् व्यक्ति नहीं कर सकता। क्योंकि आम जनता जिसमें बालबुद्धि की प्रधानता होती है बिना विशेष भय और बिना विशेष लोभ को उच्चता के कष्टसाध्य मार्ग पर चलने के लिए कदापि सहमत नहीं हो सकती। स्वर्ग का आकर्षक आनन्ददायक वर्णन और नरक का भयंकर कर रोमांचकारी दुखदायी चित्रण इसी दृष्टि से किया गया है कि इस प्रबल लोभ या भय से प्रभावित होकर लोग अनीति का मार्ग छोड़कर नीति का मार्ग अपनावें। स्वर्ग नरक की इतनी अलंकारिक कल्पनाएं रचने वालों को क्या हम झूठा ठहरावें? नहीं, यदि हम ऐसा करेंगे तो यह परले सिरे की मूर्खता होगी।

संसार में अज्ञान ग्रस्त, स्वार्थी, नीच मनो-

वृत्तियों वाले, बाल बुद्धि लोगों की कमी नहीं है। इनकी सेवा उनकी इच्छायें पूर्ण करने में सहायक बनकर नहीं—वरन् बाधक बनकर ही की जासकती हैं। जो बालक हर घड़ी गोदी में चढ़ना चाहता है, स्कूल जाने से जी चुराता है, पैसे चुरा ले जाता है या और कोई कुटेव सीख रहा है उसके साथ उदारता बरतने, उसके कार्यों में सहायक होने का अर्थ तो उसके साथ शत्रुता करना होगा, इस प्रकार तो वह बालक बिलकुल बिगड़ जायगा और उसका भविष्य अन्धकार मय होजायगा। कोई रोगी है—कुपथ्य करना चाहता है, या सन्निपात ग्रस्त होकर अंड बंड कार्य करने को कहता है उसकी इच्छा पूर्ति करने का अर्थ होगा—उसे अकाल मृत्यु के मुख में धकेल देना। इस प्रकार के बालकों या रोगियों की सच्ची सेवा इसी में है कि वे जिस मार्ग पर आज चल रहे हैं, जो चाहते हैं उसमें बाधा उपस्थित की जाय, उनका मनोरथ पूरा न होने दिया जाय। इस कार्य में सीधे-साधे तरीके से ज्ञान और विवेक मय उपदेश देने से कई बार सफलता नहीं मिलती और उनके हित का ध्यान में रखते हुए विवेकवान् और निस्वार्थ पुरुषों को भी असत्य या छल का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। ऐसे असत्य या छल को निन्दित नहीं ठहराया जा सकता। रोगी या बालकों को फुसला कर उन्हें ठीक मार्ग पर रखने के लिए यदि झूठ बोला जाय, डर या लोभ दिखाया जाय, किसी अत्युक्ति का प्रयोग किया जाय तो उसे निन्दनीय नहीं कहा जायगा।

आसुरी शक्तियां जब अत्यधिक प्रबल हो जाती हैं और उनको वश में करने के लिए सीधे-साधे तरीके असफल होते हैं तो कांटे निकालने की 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की—नीति अपनानी पड़ती है। सिंह, व्याघ्र आदि का पकड़ना या मारना—सीधे-साधे तरीके से नहीं होसकता, उनके सामने जाकर कुश्ती लड़ना या पकड़ लाना आदमी की शक्ति से बाहर है। जाल में फँसा कर, छिपकर, बन्दूक आदि हथियार का आश्रय लेकर ही उन्हें पकड़ा या मारा जासकता है। मोटी दृष्टि से देखने में यह क्रियाएं छल, धोखेबाजी, कायरता पूर्ण आक्रमण कही जासकती हैं पर विवेकवान् पुरुष जानते हैं कि इसमें कुछ भी अनीति नहीं है। हिंसक जन्तुओं की भयंकर करतूतें, उनको रोकने की अनिवार्य आवश्यकता, एवं मनुष्य की अल्प शक्ति पर विचार करते हुए यह उचित प्रतीत होता है कि इन हिंसक जन्तुओं को जिस प्रकार से भी—छल बल से भी परास्त किया जा सकता हो तो वैसा भी निस्संकोच करना चाहिए।

प्राचीन इतिहास पर जब हम दृष्टि पात करते हैं तो प्रतीत होता है कि इस नीति का अवलम्बन अनेक महापुरुषों को करना पड़ा है। धर्म की स्थूल मर्यादाओं का उल्लंघन करना पड़ा है। इस उल्लंघन में उन्होंने लोकहित का, धर्मवृद्धि का, अधर्म विनाश का ध्यान अपनी पूर्ण सद्भावना के साथ रखा था इसलिए उनको उस पाप का भागी नहीं बनना पड़ा जो साधारण तथा धर्म मर्यादाओं के उल्लंघन करने पर होता है।

भस्मासुर ने जब यह वरदान प्राप्त कर लिया कि मैं जिस किसी के भी सिर पर हाथ रख दूं वही भस्म होजाय तो उसने महादेव जी को ही भस्म करने की ठानी ताकि सुन्दरी पार्वती को वह प्राप्त करले। भस्मासुर शंकर जी के शिर पर हाथ रखकर उन्हें भस्म करने के लिए उनके पीछे दौड़ा। शंकरजी अपने प्राण बचाकर भागे। विष्णु भगवान ने देखा कि यह भारी उलझन उत्पन्न हुई—असुर बलवान है, उसे परास्त करने के लिए छल का उपयोग करना चाहिए। वे पार्वती का रूप बनाकर पहुंचे और कहा—असुरराज! मैं आपको बड़ा प्रेम करती हूं, आपके साथ रहना चाहती हूं, पर एक बात मुझे शंकरजी की बहुत पसंद है वह है उनका नृत्य। आप भी यदि वैसा ही नृत्य कर सकें तो मैं ख़ुशी

हृदय से आपके साथ चलने को तैयार हूं। भस्मासुर बड़ा प्रसन्न हुआ वह पार्वती के साथ नृत्य करने लगा। नृत्य समय में उसने अपना हाथ सिर पर रखा और स्वयं जल कर भस्म होगया। विष्णु ने अपने छल बल से उस प्रचंड असुर को सहज ही नष्ट कर दिया।

समुद्र मंथन के बाद चौदह रत्न निकले। अन्य रत्न तो बँट गये पर अमृत के बटवारे पर भारी झगड़ा था। देवता और असुर दोनों ही इस बात पर तुले हुए थे कि—अमृत हमें मिलना चाहिए। विष्णु ने देखा कि ऐसे अवसरों पर छल का अचूक हथियार ही काम देता है। उन्होंने मोहिनी रूप बनाया, असुरों को लुभाया, अमृत बांटने के लिए असुरों की ओर से प्रतिनिधि बने। देवताओं को सारा अमृत पिला दिया, असुर बगलें झांकते रह गये। उन्होंने देखा कि हमारे साथ भारी विश्वास घात हुआ। पर मोहिनी रूपी विष्णु का उद्देश्य तो महान था असुरों के साथ छल और विश्वास घात करने का दोष उनको छू भी नहीं सकता था।

राजा बलि को धोखे में डालने के लिए वामन का छोटा सा रूप बनाकर साढ़े तीन कदम भूमि मांगना और भूमि नापते समय इतना विशाल शरीर बना लेना कि तीन कदम में ही सब कुछ नाप लिया गया और आधे कदम के लिए बलि को अपना शरीर देना पड़ा। इसे स्थूल दृष्टि वाले क्या कहेंगे?

सती वृन्दा का सतीत्व नष्ट करने के लिए भगवान का जालन्धर का रूप बना कर जाना और उसका सतीत्व नष्ट करना, मोटे तौर से धर्म नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह इसलिए उचित था क्योंकि जालन्धर की मृत्यु यह किये बिना नहीं हो सकती थी। और जालन्धर ऐसा दुष्ट था कि उसके जीवित रहने से असंख्य प्रजा पर विपत्ति के पहाड़ टूट रहे थे।

राम ने वृक्ष की आड़ में छिप कर बालि को मारने में युद्ध के धर्म नियमों का स्पष्ट उल्लंघन किया। इसे क्या कहा जायगा?

महाभारत में आइए—धर्मराज युधिष्ठिर का अश्वत्थामा की मृत्यु का छल पूर्ण समर्थन किया। अर्जुन की शिखण्डी की ओट में करके भीष्म को मारा, कर्ण के रथ का पहिया गढ़ जाने पर भी उसका वध किया गया। धड़ से नीचे का भाग घायल करना वर्जित होने पर भी भीम द्वारा दुर्योधन की जंघा पर गदा प्रहार हुआ। क्या यह सब धर्म युद्ध के लक्षण हैं? पर वहां धर्म युद्ध के नियमों का बरतने का अवसर ही कहां था।

आपत्ति धर्म के अनुसार घोर दुर्भिक्ष पड़ने पर प्राण संकट में होने पर—अपने शरीर को लोकहित के लिए जीवित रखने की आवश्यकता अनुभव करते हुए—विश्वामित्र ऋषि, चाण्डाल के घर रात्रि में घुसकर कुत्ते का मांस चुराते हैं। चांडाल उन्हें पकड़ लेता और चोरी करने के लिए ऋषि की भर्त्सना करता है। विश्वामित्र उसे सविस्तार समझाते हैं कि मूर्ख! तू धर्म को जितना स्थूल समझता है वह उतना स्थूल नहीं है। किसी महान् उद्देश्य के लिए अधर्म करना भी धर्म ही है। इसी प्रकार एक बार अकाल पड़ने पर अपनी लोक हितैषी जीवन की रक्षा के लिए उषस्ति ऋषि को किसी अन्त्यज के झूठे उड़द खाकर अपने प्राण बचाने पड़े थे।

प्रह्लाद का पिता की आज्ञा उल्लंघन करना, विभीषण का भाई को त्यागना, भरत का माता की भर्त्सना करना, बलि का गुरु शुक्राचार्य की आज्ञा न मानना, गोपियों का पर पुरुष श्रीकृष्ण से प्रेम करना, मीरा का अपने पति को त्याग देना, लौकिक दृष्टि से, धर्म की स्थूल मर्यादा के अनुसार यद्यपि अनुचित कहे जा सकते हैं, पर धर्म की सूक्ष्म दृष्टि से इसमें सब कुछ उचित ही हुआ है। परशुरामजी द्वारा अपनी माता का शिर काटा जाना भी इसी प्रकार औचित्य युक्त था।

हिन्दू धर्म के रक्षक छत्रपति शिवाजी द्वारा

जिस प्रकार अफजलखां का बध किया गया, जिस प्रकार वे फलों की टोकरी में छिपकर बादशाह के बंधन में से निकल भागे—उसे भी कोई मूढ़ मति लोग छल कह सकते हैं। भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में क्रान्तिकारियों ने ब्रटिश सरकार को उलटने के लिए जिस नीति को अपनाया था उसमें चोरी, डकैती, जासूसी, वेष बदलना, हत्या, कत्ल, झूठ बोलना, छल, विश्वास घात आदि ऐसे सभी कार्यों का उपयोग हुआ है जिन्हें मोटे तौर से अधर्म कहा जा सकता है। परन्तु विवेकवान् व्यक्ति जानते हैं कि उनकी आत्मा कितनी पवित्र थी। अधर्म कहे जाने वाले कार्यों को निरन्तर करते रहने पर भी वे कितने बड़े धर्मात्मा थे। असंरक्षक दीन दुखी प्रजा की करुणाजनक स्थिति से द्रवित होकर, अन्यायी शासकों को उलटने का उन्होंने निश्चय किया था। कानून की पोथियों ने रखे ही उन्हें दोषी ठहराया और उन्हें कठोरतम दंड दिये पर परमात्मा की दृष्टि में, धर्म के तत्व ज्ञान की कसौटी पर वे कदापि पापी घोषित नहीं किये जायेंगे। सुनते हैं कि सुलताना डाकू, तांतियां डाकू, आदि भी अमीरों को लूट कर प्राप्त धन को गरीबों में बांटते थे। इस प्रकार की भावनाएं कानून के विपरीत होते हुए भी तात्विक दृष्टि से हेय नहीं है। राजनीति के नेता, युद्ध के सेनापति, सरकार के गुप्त ग्रह विभाग के कर्मचारी इस तथ्य को अपनी विचार धारा का प्रधान अंग मानकर कार्य करते हैं। यदि वे सत्य और निष्कपटता की स्थूल परिभाषा के अनुसार अपना कार्य करने लगें तो उनका कार्य एक दिन भी चलना असंभव है।

इन सब बातों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे अन्तःकरण में सत्य, प्रेम, न्याय, त्याग, उदारता, संयम, परमार्थ आदि की उच्च भावनाओं का होना आवश्यक है, उनकी जितनी अधिक मात्रा हो उतना ही उत्तम है, पर संसार के उन व्यक्तियों के साथ जो अभी अज्ञान या पाप के ज्वर से बेतरह पीड़ित होरहे हैं, काफी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। उनकी आत्मा का कल्याण हो, वे अनीति से छूटें, इस भावना के साथ यदि उन्हें भय या लोभ से प्रभावित करके सन्मार्ग पर लाया जासके तो उसमें डरने की कोई बात नहीं है। चोर डाकू, जेबकट, भ्रष्टाचारी, दुरात्मा लोगों के भेद छल करके यदि मालूम कर लिये जांय और उन्हें पकड़वा दिया जाय तो इसमें बुराई की कोई बात नहीं है। ऐसे अवसरों पर हमें अपनी धर्म भीरुता को लोकहित की तुलना में पीछे ही रखना चाहिए। शास्त्र में ऐसे कितने ही वचन हैं जिनमें कहा गया है कि—सदुद्देश्य के लिए प्रयुक्त हुआ असत्य—दुर्भाव के लिए प्रयोग हुए सत्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। क्रिया की अपेक्षा भावना का ही महत्व अधिक है। यदि उच्च उद्देश्य के लिए निन्दित कार्य भी किया जाय तो उससे भी लोकहित ही होता है और वह भी धर्मकार्य के समान ही पुण्य फल प्रदान करता है।

प्रकृति आपसे परिश्रम चाहती है।

(श्री द्वारिकाप्रसाद कटरहा बी० ए० दमोह)

प्रकृति में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं कि हमें हमारी आवश्यक वस्तुएँ बिना मूल्य या बिना परिश्रम के ही प्राप्त हो सकें। प्रकृति का अस्तित्व ही इसलिए है कि वह अपने स्वामी पुरुष से परिश्रम या पुरुषार्थ कराकर उसे अपने वास्तविक स्वरूप का परिचय दिला दे। अतएव प्रकृति हम से आशा रखती है कि हम परिश्रम कर अपनी कमियों की पूर्ति करते जाएँ और उत्तरोत्तर

योग्य बनते हुए पूर्णता को प्राप्त करें। जब तक आप परिश्रम कर बलवान और पूर्ण योग्य न बन जावेंगे तब तक प्रकृति न तो स्वयं चैन लेगी और न आपको ही चैन लेने देगी। आपकी कमियों के कारण वह आपका निरन्तर पीछा करेगी। उसने यह व्यवस्था नहीं की कि आप कमजोर भी बने रहें और आपको अपनी कमजोरी का दुष्परिणाम भी न भोगना पड़े। प्रकृति ने प्रबन्ध तो ऐसा किया है कि आप जितने अधिक कमजोर होंगे जीवन में आपको उतनी ही अधिक अप्रिय अड़चनें होंगी और आपको अपनी कमजोरी का दुष्परिणाम किसी न किसी रूप में भोगना ही पड़ेगा। अतएव यदि आप सकुशल जीना चाहेंगे तो आपको अपनी वह कमजोरी दूर करनी ही पड़ेगी। इस तरह प्रकृति आपको आगे बढ़ने की सदा प्रेरणा देती रहेगी। वह आपको, आपकी कमियों का निरन्तर अनुभव करावेगी जिन्हें दूर करने के लिये प्रयत्नशील होने पर आप आगे बढ़ते जावेंगे और उन्हें न दूर करने पर आप प्रकृति द्वारा निर्ममतापूर्वक नष्ट कर दिये जावेंगे।

यदि आप समझते हैं कि बिना स्वयं परिश्रम किये आप दूसरों के बल पर सुखपूर्वक जी सकते हैं तो यह आपका भ्रम है। यदि आप लुटेरे बनकर दूसरों की परिश्रम की कमाई छीनकर खाना चाहेंगे तो आपको कोई मानसिक शांति न मिलेगी। और यदि आप स्वयं परिश्रम न करेंगे तो भी आपको दुखी होना पड़ेगा। मान लीजिए आपको किसी वस्तु की आवश्यकता है और वह आप अपने परिश्रम से नहीं प्राप्त करना चाहते और उसे प्राप्त करने के लिए किसी परिश्रमी और बलवान व्यक्ति की सहायता चाहते हैं तो याद रखिए इस सहायता के बदले में आप को कोई न कोई चीज छोड़नी ही पड़ेगी और अपने सहायक को कुछ न कुछ देना ही पड़ेगा। कहानी है कि जब किसी घोड़े और बारहसिंघे में किसी चरागाह के एकछत्र अधिपत्य के लिए लड़ाई हुई और हारने पर घोड़े ने जंगली मनुष्य से सहायता मांगी तो उसे मनुष्य को अपनी पीठ पर बिठाना पड़ा और इस तरह अपनी स्वतंत्रता को उसे सदा के लिए खो देना पड़ा। प्रयोजन यह है कि यदि आप स्वयं परिश्रम कर अपनी सहायता आप ही नहीं कर सकते तो आपको दूसरों का गुलाम होना पड़ेगा। भारतवर्ष के इतिहास में भी इसी बात के अनेकों दृढ़ प्रमाण हैं। राणा संग्रामसिंह ने लोधी वंश के खिलाफ बाबर से सहायता मांगी और अन्त ने बाबर से पराजित होना पड़ा। जयचंद ने पृथ्वीराज के विरुद्ध मुहम्मद गौरी से सहायता मांगी और गौरी के हाथ से स्वयं प्राण त्यागने पड़े। भारतीय नरेशों ने अपने पड़ोसी नरेशों को परास्त करने के लिए अंग्रेजों से सहायता ली और परिणाम स्वरूप उनकी सहायकसंधि स्वीकार करनी पड़ी। अन्ततोगत्वा उन्हें अंग्रेजों का आश्रयत्व स्वीकार करना पड़ा और उनका दास बनना पड़ा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि आप दूसरों से सहायता प्राप्त करना चाहते हैं तो वह सहायता मुफ्त में ही मिलने की कम आशा है। आपको या तो अपने सहायक का आश्रय स्वीकार करना पड़ेगा या बदले में उसका आभार मानकर स्वयं भी उसकी कुछ सेवा करनी पड़ेगी। यदि किसी व्यक्ति ने निष्काम-भाव से हमारी कुछ सहायता कर भी दी तो भी इस तरह की सहायताएं बार बार मिलते रहने से हममें स्वयं अपनी सहायता करने का स्वभाव बनाने वाली भावनाओं के ह्रास होने की ही संभावना है। यदि हम अपने लिए किसी की निष्काम सहायता बार बार स्वीकार न भी करें तो भी यदि हम अपने सहायक को उसका बदला न चुका सके तो उपकृत होने के कारण उस व्यक्ति से अपने आपको हीन समझ लेंगे। दूसरों की बार बार सहायता लेने से हममें परमुखापेक्षिता, पर निर्भरता, आत्म-हीनता और बिना हाथ पैर डुलाए निमूल्य ही वस्तुओं के प्राप्त

करने की भावना रहती है। इस तरह हम देखते हैं कि संसार में बिना परिश्रम किये या कमजोर रहकर सुखी और स्वतंत्र बनना कठिन है। यदि प्रकृति में ऐसी व्यवस्था होती कि कमजोर और दूसरों पर निर्भर रहते हुए हमारा जीवन सुख-पूर्वक चलता रहता और हमें अपनी कमियों का कोई दुष्परिणाम भी न भोगना पड़ता तो फिर बलवान और आत्म-निर्भर होने के लिए लोगों में प्रयत्नों का सर्वथा अभाव भी हो जाता। किन्तु प्रकृति की व्यवस्था एवं सत्ता ऐसी पूर्ण और अटल है कि भूल करने पर अथवा कमजोर रहने पर उसके दण्ड से कोई भी बच नहीं सकता। यदि ऐसा न होता तो उसकी प्रेरणात्मक शक्ति ही लुप्त हो जाती।

प्रकृति आप से आशा करती है कि आप अपना पुरुषार्थ प्रकट करें। यदि आप स्वयं ही अपनी प्रेरणा से अपना पुरुषार्थ प्रकट कर सकें तो अच्छा है अन्यथा प्रकृति आपको नष्ट करने की धमकी देकर आप से बरबस यह कार्य करा लेगी। प्रकृति आपको पुरुषार्थी बनाने के लिए कृत-संकल्प है और प्रकृति में जो जीवन-संग्राम चल रहा है वह उसकी इच्छा का परिचायक है। जिन्होंने उसकी इच्छा का पालन नहीं किया उसने उन्हें समूल नष्ट कर दिया है।

जो व्यक्ति प्रमादी, आलसी और कमजोर है प्रकृति उसके लिए एक निष्ठुर स्वामी है किन्तु जब वही व्यक्ति साधना द्वारा पुरुषार्थी हो जाता है तब वह उसकी चेरी हो जाती है अपनी समस्त शक्तियां उसे प्रकट कर देती है, उसके आगे अपनी गुप्त निधियां बिखेर देती है और उसे पुरुष (या ईश्वर) बना देती है।

लक्ष्य विहीन-जीवन।

(ले०—श्री अगरचन्दजी नाहटा)

हम हर समय चिन्ताशील व क्रियाशील नजर आते हैं। फिर भी हमारा लक्ष्य क्या है ? इसका हमें पता तक नहीं, यही आश्चर्य का विषय है। सभी लोग धन बटोरते हैं पर उसका हेतु क्या है ? इसका उत्तर विरले ही ठीक से दे सकेंगे। सभी करते हैं तो हम भी करें, सभी खाते हैं तो हम भी खाएं, सभी कमाते हैं तो हम भी कमाएं इस प्रकार अन्धानुकरण वृत्ति ही हमारे विचारों और क्रियाओं की आधार शिला प्रतीत होती है। अन्यथा जिनके पास खाने को नहीं वे खाद्य-सामग्री संग्रह करें तो बुद्धिगम्य बात है पर जिनके घर लाखों रुपये पड़े हैं वे भी बिना पैसे-वाले जरूरतमंद व्यक्ति की भांति पैसा पैदा करने में ही व्यस्त नजर आते हैं। आखिर कमाई-संग्रह क्यों और कहां तक ? इसका भी तो विचार होना चाहिये। पर हम चैतन्य शून्य लक्ष्य-विहीन एवं यन्त्रवत् जड़ से हो रहे हैं। क्रिया कर रहे हैं पर हमें विचार का अवकाश कहां? जिस प्रकार कहां जाना है यह जाने बिना कोई चलता ही रहे तो इस चलते रहने का क्या अर्थ होगा ? लक्ष्य का निर्णय किये बिना हमारी क्रिया निरर्थक होगी, जहां पहुंचना चाहिए वहां पहुंचने पर भी हमारी गति समाप्त नहीं होगी। कहीं के कहीं पहुंच जायेंगे परिश्रम पूरा करने पर भी फल तदनुरूप नहीं मिल सकेगा।

खाना, पीना, चलना, सोना—यही तो जीवन का लक्ष्य नहीं है पर इनसे अतिरिक्त जो जीवन की गुत्थियाँ हैं उनको सुलझाने वाले बुद्धिशील व्यक्ति कितने मिलेंगे ? जन्म लेते हैं, इधर उधर थोड़ी हलचल मचाते हैं और चले जाते हैं। यही क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है। पर आखिर यह जन्म धारण क्यों ? और यह मृत्यु भी क्यों ? क्या इनसे मुक्त होने का भी कोई उपाय है ?

है तो कौनसा ? और उसकी साधना कैसे की जाय ? विचार करना परमावश्यक है। यह तो निश्चित है कि मरना अवश्यंभावी है, पर यह मृत्यु होगी कब ? यह अनिश्चित है, इसीलिए लक्ष्य को निर्धारित कर उसी तक पहुंचने के लिये प्रगतिशील बना जाय, समय को व्यर्थ न खोकर प्राप्त साधनों को लाभ के अनुकूल बनाया जाय और लक्ष्य पर पहुंचकर ही विश्राम लिया जाय। यही हमारा परम कर्त्तव्य है।

क्यों खाएँ ? कैसे खाएँ ?

भोजन का मुख्य उद्देश्य जीवन रक्षा है लेकिन आजकल जीवन को ताक में रखकर भोजन का उपयोग किया जाता है। भोजन की स्वाभाविकता नष्ट हो जाने से मनुष्य जीवन की स्वाभाविकता भी विलीन होती जाती है। जिसका परिणाम यह हो रहा है कि जहां मनुष्य अन्न को खाकर सौ वर्ष तक जिन्दा रहता था वहां भोजन मनुष्य को खा रहा है और उसकी औसत आयु २२ वर्ष रह गई है।

जैसा मिले अन्न वैसा बने मन। यह जनश्रुति प्रसिद्ध है। अन्न की अच्छाई का सम्बन्ध उसके गुणों से है, उसकी जीवनी शक्ति से है। देखा जाता है कि अन्न को आंच पर पकाने या ज्यादा आंच देने से उसकी जीवनी शक्ति या तो कम होजाती है, या नष्ट होजाती है। तब ऐसा अन्न खाने से मनुष्य का क्या उपकार होगा। बल्कि ऐसे अन्न के खाने से शरीर के पाचक यन्त्रों को पचाने वाली क्रिया करनी पड़ती है, क्रिया तो करनी पड़ती है पूरी लेकिन शक्ति मिलती है थोड़ी। इसलिए पाचक यंत्र धीरे धीरे शक्ति हीन होने लगते हैं और अन्त में जाकर काम करना बन्द कर देते हैं।

ज्यादा गर्मी पहुंचने से अन्न के जो कोमल अवयव होते हैं और जिनमें प्राण शक्ति रहती है वे जल जाते हैं यह बात बिजली की आटा चक्की के पिसे हुए आटे से भली प्रकार समझी जा सकती है। उससे पिसे हुए ताजे आटे की गर्मी इतनी तेज होती है कि वहां हाथ लगाने पर वह जलना शुरू होजाता है। जब कि उसी अन्न को हाथ की चक्की से पीसा जावे तो आटे की गरमी नहीं के बराबर होती है, जीवनी शक्ति सम्पूर्ण रूप से उसमें रहती है। देहात और शहर के निवासियों के स्वास्थ्य और जीवनी शक्ति का यदि परीक्षण किया जावे तो देखा जावेगा कि जहां जहां शहरी हवा नहीं लगी है, जहां बिजली की या पानी की चक्कियां नहीं पहुंची है। जहां भोजन की स्वाभाविकता नष्ट नहीं हुई है, वहां कम उम्र में मृत्यु नहीं होती, वहां बीमारियां आसानी से आक्रमण नहीं कर पातीं और उनका स्वास्थ्य शहर वालों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहता है।

भोजन के वास्तविक स्वाद को नष्ट कर उसे कृत्रिम रूप से स्वादिष्ट बनाने के लिए मसालों का उपयोग भी इन दिनों अधिक होने लगा है। नमक, मसाले आदि खाद्य को तीक्ष्ण और उग्र बना देते हैं जिसके कारण शरीर में आवश्यकता से अधिक ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है। यह ऊष्मा शरीर के कार्यकारी संस्थानों को उत्तेजित कर देती है जिसके कारण वीर्य में ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है और वह अस्थिर होजाता है। वीर्य की अस्थिरता से मनमें भी उत्तेजना आती है और शक्ति की बर्बादी प्रारंभ होजाती है। पाचक क्रिया का शिथिल होना, ऊष्मा की वृद्धि से आंखों की रोशनी का ह्रास, रक्त की गति और दबाव में अधिकता या कमी और ज्ञान तन्तुओं की मूर्च्छना से पक्षाघात (लकवा) जैसे रोग उत्पन्न होकर मनुष्य की जीवनी शक्ति को क्षीण कर देते हैं। यदि मनुष्य संयम से काम ले,

अपनी जीभ को काबू में रखे कृत्रिम स्वाद की अपेक्षा स्वाभाविकता की उपासना करे तो जहाँ भोजन से मन की शुद्धि और बुद्धि का विकास होगा वहां आयु की वृद्धि और रोगों का विनाश भी होगा।

मनुष्य का स्वाभाविक भोजन वह है जिसे प्रकृति स्वयं पकाती है और जिसे कृत्रिम उपायों द्वारा तैयार नहीं करना पड़ता। मेवा, फल, दूध कन्द-मूल तथा शाक ऐसे आहारों में से प्रमुख हैं। सुना होगा कि प्राचीन काल में ऋषि मुनि वनों में रहते थे, वे लोग बड़ी बड़ी गायें रखते थे। उनके पास के वन, फल-फूल तथा कन्द मूलों से भरे रहते थे। इन्हें खाकर के वे न सिर्फ दीर्घ जीवी होते थे बल्कि नीरोग, बुद्धिमान तथा विद्वान होते थे। ऐसे ऋषि, मुनि, गृह त्यागी नहीं होते थे, गृहस्थ होते थे। गृहस्थ जीवन बिताते थे। उनका संयम और उनका जीवन आज के मानव के लिए न सिर्फ उपदेश-प्रद बल्कि आदर्श है। यह कल्पना नहीं है, यह प्रत्यक्ष सत्य है। जो इसका प्रयोग करेगा वह देखेगा कि उसके जीवन में कितनी शान्ति, कितना आनन्द बढ़ गया साथ ही स्फूर्ति और जीवनी शक्ति कितनी बढ़गई है।

शाक सब्जी तथा अनाज आदि में जीवन के लिए जिन जिन रसों की जितनी जितनी आवश्यकता है वे भरे हुए हैं पर उन्हीं अग्नि द्वारा सिद्ध करने पर इसके विपरीत हो जाते हैं और तब उनके अस्वाद को दबाने के लिए तेज पदार्थों का उपयोग किया जाता है, ये पदार्थ स्वादेन्द्रिय को उत्तेजित करते हैं और उस उत्तेजना की अवस्थामें मनुष्य समझता है कि वह सब बड़ा स्वाद बना है लेकिन उसके बाद चटोरपन और स्वाद के चक्कर में वह पड़जाता है लिप्सा उसे घेर लेती है। और वह लोलुप सा होने लगता है पर जो लोग मसाले आदि पदार्थों का सेवन त्याग देते हैं और सात्विक आहार की शरण लेते हैं ऐसे संयमी पुरुषों से जड़ता और तन्द्रा दूर से ही प्रणाम करती है, चटोरपन उनके पास नहीं फटकता। अनेक लोगों ने इसका अनुभव किया है।

चाय, काफी, शराब जैसे उत्तेजक पदार्थों के सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनका पाचक संस्थानों पर बहुत बुरा असर पड़ता है। शराब और तम्बाकू जैसे पदार्थ तो फेंफड़ों पर अपना बुरा असर डालते हैं। जो प्राण और जीवनी शक्ति के ग्रहण करने का प्रमुख आधार है उसकी दुर्गति का यह इतिहास मनुष्य को हिलादेने वाला है लेकिन स्वाद तथा फैशन की गुलामी में जकड़े मनुष्य उसकी महिमा का ही वर्णन करते पाये जायेंगे।

भोजन जहाँ स्वास्थ्य देता है, पोषण करता है वहां वह भोजनकर्त्ता को खा भी जाता है। इसलिए भोजनमें जीवन का एक मुख्य अंग है-भोजन की सादगी। फलों तथा दूध का सेवन तथा जहां तक संभव हो अनाज को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अग्नि से बचाकर उसे स्वाभाविक रूप में खाना ही स्वास्थ्य एवं जिन्दगी को बनाये रखने तथा बढ़ाने का मूल मंत्र है। जो इस मंत्र को याद रखते हैं वे रोग, दोष और अकाल मृत्यु से सुरक्षित रहते हैं।

बहुत संतान पैदा मत कीजिए।

बढ़ती हुई भोगेच्छा, सौन्दर्य रक्षा और आर्थिक विपत्ति से बचने के लिए पाश्चात्य देश वासियों ने सन्तति निरोध का प्रचार किया है। पाश्चात्यों की हमेशा नीति रही है कि वे भोगेच्छाओं को कम न करके उसे बढ़ाते रहें। और उससे उत्पन्न भयंकर परिणामों से बचने के लिए नये नये आविष्कार करें।

भारत वर्ष ने हमेशा ही संयम की शिक्षा दी

है। यहां प्राणी के जीवन का उद्देश्य है आत्म-प्राप्ति। खाओ, पिओ और मौज करो के विधान को भारत ने कभी स्वीकार नहीं किया। जीवन का उद्देश्य मनोरंजन नहीं आत्म विकास है। भोग जीवन का अंग हो सकता है लेकिन जीवन पर भोग की सत्ता स्थापित करना भारत को कभी इष्ट नहीं रहा।

विदेशों में जहां जीवन पर भोग का शासन है समाज में बड़ी अव्यवस्था है। वहां की राज्य-क्रान्तियों और आर्थिक क्रान्तिओं में सर्वत्र इन्हीं भोग देवता के दर्शन मिलते हैं। वहां मानव समाज भोग्य और भोक्ताओं में बँटा हुआ है। भोक्ता लोग उपभोग द्वारा एक समाज का शोषण करते हैं। वहां का व्यक्ति दूसरे शक्तिशाली व्यक्तियों के उपभोग का एक यंत्र मात्र है। यंत्र से अधिक उसकी कीमत नहीं है इसलिए वहां मानवता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। जहां मानवता की पूछ नहीं होती हो वहां भगवान के लिए स्थान मिलता तो कदापि संभव नहीं हो सकता। इस प्रकार की विषमताओं ने राग-द्वेष, क्रोध, संघर्ष, हिंसा, प्रतिहिंसा आदि वासनात्मक वृत्तिओं को जन्म दिया है। मनुष्य, देव बनने की अपेक्षा असुर बनता जारहा है। पशुता की ओर उसका झुकाव होरहा है। आत्मा भुलाई जा रही है।

अपनी इसी भोग लिप्सा की पूर्ति के लिए बाधक रूप सन्तान को दूर करने के अनेक साधन निकाले गये हैं। ये समस्त साधन तीन प्रकार हैं। १—शस्त्रक्रिया द्वारा गर्भाशय को निकलवा देना। २—आच्छादन द्वारा वीर्य को गर्भाशय में जाने देने से रोकना। ३—रासायनिक प्रक्रिया द्वारा शुक्र कीटाणुओं का विनाश। सन्तति निरोध के इन साधनों का प्रयोग करने वालों पर स्नायविक, मानसिक एवं शारीरिक अनेक प्रकार की व्याधियों का आक्रमण होता है इसका अनुभव अनेक डाक्टरों ने किया है। और सामूहिक रूप से इसका विरोध करने लगे हैं।

भारत की संस्कृति में बाहिरी निरोध के लिए कभी स्थान नहीं रहा। भारत में नारी की सार्थकता भोग से नहीं है, सन्तानोत्पादन से ही है। नारी की आत्मा का विकास करने में उसकी सन्तान का प्रमुख हाथ है। उससे उसमें अनेक सात्त्विक वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। वात्सल्य, करुणा, मुदिता आदि सात्त्विक भावों के उद्रेक से ही मानव तमोगुण और रजोगुण की सीमाओं को लांघता हुआ आत्मा को स्पर्श करता है। आत्मा स्पर्श का सुख भोग सुख से अनन्त गुना अधिक और शाश्वत है।

गर्भाशय रहने के कारण ही नारी की अनेक पुरुषावृत्तियां दबी रहती हैं और कोमलवृत्तियां जो कि मानव के विकास क्रम में अधिक सहायक होती हैं, गर्भाशय और गर्भ धारण द्वारा ही विकसित होती हैं। गर्भाशय निकाल देने के अनन्तर नारी की दबी हुई पुरुषवृत्ति जाग्रत होजाती है। ऐसी नारियों के दाढ़ी मूंछ निकल आते हैं और इस प्रकार वह अस्वाभाविकता के चक्कर में पड़ कर अपने स्वाभाविक विकास को खो देती है। भोग द्वारा उसके स्नायुविक तन्तु अधिक उत्तेजित होते हैं और उस पर उन्माद जैसे रोगों का आसानी से आक्रमण हो जाता है। रबड़ की थैली द्वारा संभोगेच्छा तृप्त करने वाली नारियां भी उन्माद और अपस्मार के चक्कर में फँस जाती हैं। अक्सर देखा जाता है कि जिन स्त्रियों के सन्तान नहीं होती उन्हें योषाअपस्मार जो कि मृगी या मूर्च्छा का एक घातक रूप है—हो जाता है। यह एक स्नायुजन्य रोग है जो कि उत्तेजना की प्रबलता के कारण होता है।

रासायनिक प्रयोगों द्वारा शुक्र कीटाणुओं का विनाश किन्हीं अन्य बीमारियों को उत्पन्न कर देते हैं साथ ही वे स्नायुजन्य रोगों को भी बल देते हैं।

भारत में जीवन के आरम्भ काल से शिक्षा दी जाती है संयम की। साथ ही जीवन में होने वाले प्रत्येक कार्य का लक्ष्य आत्मोपलब्धि है। यह

स्मरण रखना भी बतलाया जाता है। इसीलिए जहां ब्रह्मचर्य का महत्व है, वहां स्त्री संभोग को भी एक यज्ञ बतलाया गया है। सृष्टि चक्र संचालन के लिए सन्तान की आवश्यकता है। वंश परम्परा की एवं वंश सूत्र की रक्षा करना पितृ यज्ञ माना जाता है। और पितरों के ऋण से उद्धार पाने का एक मात्र उपाय सन्तानोत्पादन है। काम प्रवृत्तिको अधिक से अधिक यज्ञमय एवं आत्मोपलब्धि में सहायक बनाने के लिए भारतीय संस्कृति में विवाह की सृष्टि की गई। एक नारी सदा ब्रह्मचारी,की जनश्रुति भारत में सुप्रसिद्ध है। काम को या भोग-भावना को अधिक से अधिक संयत करके शक्ति को किस प्रकार आत्मोन्मुखी करना चाहिए विवाह द्वारा मानव इसी पाठको सीखता है। यहां तक कि मानव के कल्याण के लिए विवाह एक आवश्यक संस्कार माना गया है। यह गृहस्थ जीवन का एक आवश्यक अंग है। और इसका अनुष्ठान करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत एक आवश्यक उपाय।

जीवन के प्रत्येक कार्य में भगवान की साक्षी रखकर उन्हीं की लीला में योग देने के लिए मनुष्य का प्रयत्न होना चाहिए। यही भगवान की सच्ची उपासना या आत्मोपलब्धि का साधन है। भोग इसी का एक अंग है। सन्तानोत्पादन के लिए ही स्त्री संभोग की प्रवृत्ति होनी चाहिए। संयम की इस पगडण्डी पर चलने के लिए धर्म शास्त्रों में विभिन्न नियम उपनियमों की सृष्टि की गई है। अमावस, संक्रान्ति, पर्वकाल आदि में जो स्त्री भोग की निन्दा और निषेध किया है उसमें संयम की भावना ही काम कर रही है। मास में एक बार वह भी जब सन्तान की इच्छा हो विधि विधान पूर्वक.देवी भावना से युक्त होकर स्त्री संभोग की इजाजत दी गई है। और गर्भाधान हो जाने पर संभोग न करने का आदेश भी दिया गया है।

भोग पर संयम या नियंत्रण करने की बात का जो उल्लेख किया गया है वह उत्तेजना से बचने के लिए है क्योंकि अनुभवियों का कहना है कि काम का भोग करने से काम शमन नहीं होता जैसे अग्नि में घृत की आहुति देने से अग्नि प्रज्वलित ही होती है। इसीलिए खान-पान, आचार-व्यवहार सभी पर संयम की बात कही गई है। सन्तति निरोध के इस धार्मिक उपाय से सन्तान भी मिलती है, दिव्य भोग की प्राप्ति भी होती है, आत्मा का विकास भी होता है साथ ही समाज में न किसी प्रकार की विशृंखलता उत्पन्न होती है और न अशान्ति। इसीलिए भारतवासियों को अपनी पद्धति से ही अपना उद्धार करना चाहिए। दूसरों की पद्धति चाहे कितनी ही लाभकारी दिखाई देती हो, वे भय और विनाश के देने वाली हैं, इसे कदापि न भूलना चाहिए और क्षणिक उत्तेजना में मनुष्य को पागल बन कर अपनी बुद्धि का विनाश न कर बैठना चाहिए।

इन सम्पत्तियों का सदुपयोग कीजिए।

(श्री० श्यामलाल गुप्त वैद्य, भरथना)

मनुष्य प्राणी की रचना परमात्मा की सर्व श्रेष्ठ कृति है। प्रभु ने इस रचना में चुन चुन कर वह ईंट चूना लगाया है जो उसकी दृष्टि में सर्वोत्तम जँचा। वैज्ञानिक हैरान हैं कि फोटोग्राफी का कोई इतना उत्तम 'लेन्स' बना पावें जैसा कि मनुष्य के नेत्रों में लगा हुआ है। फोटो ग्राफी के विशेषज्ञ प्रो० हैरिच का कथन है कि यदि मनुष्य की आंखों जैसा उत्तम 'लेन्स' बन सका तो

उसकी कीमत कमसे कम दस लाख रुपया होगी। इसी प्रकार कान के पर्दे आवाज के पहचानने में जितना स्पष्ट अन्तर कर सकते हैं उतना कोई भी ध्वनि प्रस्तारक या ध्वनि ग्राहक यंत्र नहीं कर सकता। टेलीफोन और रेडियो द्वारा ध्वनि का स्थूल अंश ग्रहण किया जाता है और उनके द्वारा जो ध्वनि सुनाई देती है उसमें बारीकियों को पहचानना कठिन होता है। जब तक यह न बताया जाय कि 'कौन बोल रहा है' तब तक केवल मात्र टेलीफोन की ध्वनि के आधार पर कुछ अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। पर हमारे कान इन बारीकियों को भले प्रकार अनुभव करते हैं। और अन्धे भी यह बतादेते हैं कि अमुक व्यक्ति बोल रहा है। ध्वनि विशेषज्ञ डा० रेमकोज का कथन है कि मनुष्य के कान जैसा शुद्ध ध्वनि क्षेपक यंत्र बनाने में विज्ञान को सफलता नहीं मिली। पर ऐसा यंत्र यदि बन सका तो उसका मूल्य डेढ़ करोड़ रुपये से कम न होगा।

इसी प्रकार अन्य दसों इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। अमेरिका में मनुष्य जैसा काम करने वाली मशीनें बनी हैं। इनकी कीमत लाखों रुपये हैं फिर भी वे बहुत थोड़े काम कर सकती हैं। मशीनों के निर्माता इलियट जान्स का कहना है कि यह मशीन मानव, असली मनुष्य की तुलना में, दस हजारवाँ भाग मात्र हैं। मानव प्राणी के मस्तिष्क में की रचना को देख कर तो आज का विज्ञान-जगत दांतों तले उगली दबा जाता है। ऐसे अद्भुत यंत्र का रचना करने के लिए सोचने तक का उनमें साहस नहीं होता। इतनी महत्ता तो इस स्थूल शरीर की है फिर मानव प्राणी के अन्दर जो अनन्त आत्मिक शक्तियां भरी पड़ी हैं उनके बारे में तो कहा ही क्या जाय?

इससे स्पष्ट है कि परमात्मा ने मनुष्य प्राणी के रचना में सर्वोत्तम तत्वों का प्रयोग किया है। इसे सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने में उसने किसी प्रकार की कोर कसर नहीं रखी है। शरीर मस्तिष्क, मन और मनोवृत्तियां सभी तो उसने अद्भुत बनाई हैं। इतनी अद्भुत, इतनी महत्व पूर्ण, इतनी महान कि उनकी श्रेष्ठता के बारे में कुछ कहते नहीं बनता।

मनुष्य को अनेक प्रकार की मनोवृत्तियां जन्म से ही दी गई हैं, वे सब इतनी उपयोगी एवं महत्व पूर्ण हैं कि यदि उनको ठीक प्रकार से प्रयोग में लाया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त सुख शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है। पर हम देखते हैं कि दुर्भाग्यवश लोग उनका सदुपयोग करना नहीं जानते और उन्हें बुरे मार्ग में खर्च करके अपने लिए तथा दूसरों के लिए दुखों की सृष्टि करते हैं।

हम देखते हैं कि कई मनोवृत्तियों की संसार में बड़ी निन्दा होती है। कहा जाता है कि यह बातें पाप और दुख की जड़ हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि को जी भर कोसा जाता है और कहा जाता है कि इन्हीं के कारण संसार में अनर्थ होरहे हैं। इस प्रकार के कथन किस हद तक सही हैं इसका विचारवान पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

यदि काम बुरी वस्तु है, त्याज्य है, पाप मूलक है तो उसका उपयोग न तो सत्पुरुषों को ग्राह्य हो सकता था और न बुरी बात का अच्छा परिणाम निकल सकता था। परन्तु इतिहास दूसरी ही बात सिद्ध करता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश विवाहित जीवन व्यतीत करते हैं, व्यास अत्रि, गौतम, वशिष्ठ, विश्वामित्र, यज्ञवल्क, भारद्वाज, च्यवन, आदि प्रायः सभी प्रधान ऋषि सपत्नीक रहते हैं और संतानोत्पादन करते हैं। दुनियां में असंख्य पैगम्बर, ऋषि, अवतार, महात्मा, तपस्वी, विद्वान, महापुरुष हुए हैं, यह सब किसी न किसी माता पिता के संयोग से ही उत्पन्न हुए थे। यदि काम सेवन बुरी बात है तो उसके द्वारा उत्पन्न हुए बालक भी बुरे ही होने चाहिए। बुरे से अच्छे की सृष्टि कैसे हो सकती है? कालोंच से सफेदी कैसे निकल सकती है? इन बातों पर विचार करने से स्पष्ट

हो जाता है, 'काम' स्वयं कोई बुरी वस्तु नहीं है। परमात्मा ने अपनी सर्वश्रेष्ठ वृत्ति 'मनुष्य' में कोई बुरी बात नहीं रखी, काम भी बुरी वस्तु नहीं है, बुरा केवल काम का दुरुपयोग है। दुरुपयोग करने से तो अमृत भी विष बन सकता है। पेट की सामर्थ्य से बाहर अमृत पीने वाले को भी दुख ही भोगना पड़ेगा।

क्रोध के ऊपर विचार कीजिए। क्रोध एक प्रकार की उत्तेजना है जो आक्रमण करने से पूर्व, छलांग मारने से पूर्व आनी अत्यन्त आवश्यक है। लम्बी छलांग कूदने वाले को पहले कुछ दूर से दौड़ कर आना होता है, तब वह लम्बा कूद सकता है यदि यों ही शान्त खड़ा हुआ व्यक्ति अचानक छलांग मारना चाहे तो उसे बहुत कम सफलता मिलेगी। अपने भीतर घुसी हुई तथा फैली हुई बुराइयों से लड़ने के लिए एक विशेष उत्साह की आवश्यकता होती है और वह उत्साह क्रोध द्वारा आता है। यदि क्रोध तत्व मानव वृत्ति में से हटा दिया जाय तो बुराइयों का प्रतिकार नहीं हो सकता। रावण, कंस, दुर्योधन, हिरण्यकश्यपु, महिषासुर जैसों के प्रति यदि क्रोध की भावनाऐं न उत्पन्न होतीं तो उनका विनाश कैसे होता? भारत में यदि इंग्रेजों के विरुद्ध व्यापक क्रोध न उभरता तो भारत माता आज स्वाधीन कैसे हुई होती? अत्याचारों के विरुद्ध क्रोध न आता तो परशुराम कैसे अपना फरसा संभालते? महारानी लक्ष्मी बाई, महाराणा प्रताप छत्रपति शिवाजी, जैसे आदर्श नर रत्नों की सृष्टि कैसे होती? अधर्म की बढ़ोतरी से कुपित होकर ही भगवान पापों का संहार करते हैं। इससे प्रकट है कि क्रोध बुरा नहीं है। क्रोध का अनुपयुक्त स्थान पर दुरुपयोग होना ही बुरा है।

लोभ को लीजिए। उन्नति की इच्छा का लाभ ही लोभ है। स्वास्थ्य, विद्या, धन, प्रतिष्ठा, पुण्य, स्वर्ग, मुक्ति, आदि की लोभ ही मनुष्य को क्रियाशील बनाता है। यदि लोभ न हो तो न किसी प्रकार की इच्छा ही उत्पन्न न होगी और इच्छा के अभाव में उन्नति के लिए प्रयास करना भी न हो सकेगा। फल स्वरूप मनुष्य भी कीट पतंगों की तरह भूख और निद्रा को पूर्ण करते हुए जीवन समाप्त करले। लोभ उन्नति का मूल है। पहलवान, विद्यार्थी, व्यापारी, किसान, मजदूर, लोक सेवी, पुण्यात्मा, ब्रह्मचारी, तपस्वी, ज्ञानी, सत्संगी, योगी: सभी अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार लोभी हैं जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता है, जो जिस वस्तु का संचय करने में लगा हुआ है उसे उस विषय का लोभी कहा जा सकता है। अन्य लोभों की भांति धन का लोभ भी बुरा नहीं है। यदि बुरा है-तो भामाशाह का, जमनालाल बजाज का धन संचय भी बुरा कहा जाना चाहिए, परन्तु हम देखते है कि इनके धन संचय द्वारा संसार का बड़ा उपकार हुआ। और भी अनेकों ऐसे उदार पुरुष हुए हैं हैं जिन्होंने अपने धन को सत्कार्य में लगा कर अपनी कमाई को सार्थक बनाया। ऐसे लोभ में और निर्लोभता में कोई अन्तर नहीं है। निन्दा तो उस लोभ की, की जाती है जिसके कारण अनीति पूर्वक, अनुचित धन संचय करके उसको कुवासनाओं की पूर्ति में व्यय किया जाता है, जोड़ जोड़ कर अनुपयुक्त अधिकारी के लिये छोड़ा जाता है। लोभ का दुरुपयोग ही बुरा है वस्तुतः लोभ वृत्ति की मूल भूत रूप से निन्दा नहीं की जा सकती।

मोह का प्रकरण भी ऐसा ही है। मोह के कारण माता अपने बच्चोंको पालती है। यदि प्राणी निर्मोही होजाय तो माताऐं अपने बच्चों को कूड़े कचरे के ढेर में फेंक आया करें, क्योंकि इन बालकों से उनको लाभ तो कुछ नहीं उलटी हैरानी ही होती है। फिर मनुष्य तो यह भी सोचले कि बड़ी होने पर हमारी सन्तान हमें कुछ लाभ देगी, पर बेचारे पशु पक्षी तो यह भी नहीं सोचते, उनकी सन्तान तो बडे होने पर उन्हें पहचानती तक नहीं, फिर सेवा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। रक्षा की सभी क्रियाऐं मोह के कारण होती हैं। शरीर का मोह, यश का मोह, प्रतिष्ठा का मोह, कर्तव्य का

मोह, स्वर्ग का मोह, साधन सामिग्री का मोह यदि न हो तो निर्माण और उत्पादन न हो और रक्षा की व्यवस्था भी न की जा सके। ममता का भाव न रहे तो "मेरा कर्तव्य" भी न सोचा जा सकेगा "मेरी मुक्ति-मेरा कल्याण" भी कौन सोच सकेगा? अपनी संस्कृति अपनी देशभक्ति को भी लोग भुलादेंगे। एक दूसरे प्रति प्रेम का बंधन कायम न रह सकेगा और सब लोग आपस में उदासीन की तरह रहा करेंगे। क्या ऐसा नीरस जीवन जीना कोई मनुष्य पसंद कर सकता है? कदापि नहीं। मोह एक पवित्र शृंखला है जो व्यष्टि को समष्टि के साथ, व्यक्ति को समाज के साथ, मजबूती से बांधे हुए है यदि यह कड़ी टूट जाय तो विश्व मानव की सुरम्य माला के सभी मोती इधर उधर बिखर कर नष्ट हो जांयगे। मोह का अज्ञान जनित रूप ही त्याज्य है। उसके दुरुपयोग की भर्त्सना की हीजाती है।

इसी प्रकार मद मत्सर अहंकार आदि निंदित वृत्तियों के बारे में समझना चाहिए। परमात्मा के प्रेम में झूम जाना सात्विक मद है, क्षमा करना, भूल जाना, अनावश्यक बातों की ओर से उपेक्षा करना एक प्रकार का मत्सर है, आत्म ज्ञान को, आत्मानुभूति को, आत्म गौरव को अहंकार कहा जा सकता है। इस रूप में यह वृत्तियां निन्दित नहीं हैं। इनकी निन्दा तब की जाती है जब यह संकीर्णता पूर्वक, तुच्छस्वार्थों के लिए, स्थूल रूप में प्रयुक्त होती हैं।

मानव प्राणी, प्रभु की अद्भुत कृति है, इसमें विशेषता ही विशेषता भरी है, निन्दनीय एक भी वस्तु नहीं है। इन्द्रियां अत्यन्त महत्व पूर्ण अंग हैं उनकी सहायता से हमारे आनन्द में वृद्धि होती है तथा उन्नति में सहायता मिलती है, पुण्य परमार्थ का लाभ होता है। पर यदि इन इन्द्रियों को उचित रीति से प्रयुक्त न करके उनकी सारी शक्ति अत्यधिक, अमर्यादित भोग भोगने में खर्च कर डाली जाय तो इससे नाश ही होगा, विपत्तियों की उत्पत्ति ही होगी। इसी प्रकार काम क्रोध, लोभ, मोह आदि की मनोवृत्तियां, परमात्मा ने आत्मोन्नति तथा जीवन की सुव्यवस्था के लिए बनाई हैं, इनके सदुपयोग से हम विकास पथ पर अग्रसर होते हैं। इनका त्याग पूर्ण रूप से हो नहीं सकता। जो इनको नष्ट करने या पूर्णतया त्याग करने की सोचते हैं वे ऐसा ही सोचते हैं जैसे कि आंख, कान, हाथ, पांव आदि काट देने से पाप न होंगे या सिर काट देने से बुरी बातें न सोची जांयगी। ऐसे प्रयत्नों को बालबुद्धि का उपहासास्पद कृत्य ही कहा जा सकेगा। प्रभु ने जो शारीरिक और मानसिक साधन हमें दिये हैं वे उसके श्रेष्ठ वरदान हैं, उनके द्वारा हमारा कल्याण ही होता है। विपत्ति का कारण तो हमारा दुरुपयोग है। हमें चाहिए कि अपने प्रत्येक शारीरिक और मानसिक औजार के ऊपर अपना पूर्ण नियंत्रण रखें, उनसे उचित काम लें, उनका सदुपयोग करें। ऐसा करने से जिन्हें आज निंदित कहा जाता है, शत्रु समझा जाता है कल वे ही हमारे मित्र बन जाते हैं। स्मरण रखिए प्रभु ने हमें श्रेष्ठ तत्वों से बनाया है, यदि उनका दुरुपयोग न किया जाय तो जो कुछ हमें मिला हुआ है हमारे लिए सब प्रकार श्रेयस्कर ही है। रसायन शास्त्री जब विष का शोधन मारण करके उससे अमृतोपम औषधि बना लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि विवेक द्वारा यह अमूल्य वृत्तियां जो आमतौर से निंदित समझी जाती है, सत्परिणाम उत्पन्न करने वाली न बन जांय।

आदमी की सबसे भारी भूल यही है कि वह सोचता है कि कुदरतन वह कमजोर और पापी है। किन्तु सत्य यह है कि प्रकृति से मानव दिव्य है। जो पापी और बलहीन होती हैं, वह उसकी आदतें हैं, उसकी इच्छायें हैं और विचारधारा हैं। वह स्वयं पापी और बलहीन कभी नहीं हो सकता।

\+ \+ \+

उन्नति के पथ पर

(श्री नन्दकिशोरजी, पिलानी)

प्रत्येक पुरुष में उन्नति की भावना हमेशा विद्यमान रहती है। इसके हृदय में अपने आप को दूसरों से अलग अनुभव करने की एक हूक सी उठती है। वह चाहता है कि मनुष्य मेरा आदर करें और मेरा नाम उन्नति शील पुरुषों की तरह प्रसिद्ध हो जाये। मनुष्य प्रायः प्रत्येक कार्य इसी उद्देश को लेकर करता है।

यह उन्नति की भावना एक ऐसी जल धारा है जिसका प्रवाह कभी बंद नहीं होता परन्तु प्रवाह की दिशा बदल सकती है। जब मनुष्य एक तरफ उन्नति नहीं कर पाता तो दूसरी ओर पिल पड़ता है। विद्यार्थी जब पढ़ाई में सबसे आगे नहीं हो सकता तो वह खेलों में प्रसिद्ध होना चाहता है। यदि वहां भी सफलता प्राप्त न हो तो वह मजाक, बदमाशी, अधिक बोलना, या कम बोलना—इनमें ही वह साथियों से कहलवा लेना चाहता है कि वह ऐसा ही है। इस प्रकार वह उन्नति अवश्य करता है परन्तु यह नहीं कह सकते कि उसकी उन्नति से जगत् की कितनी उन्नति हुई है।

जब मनुष्य उन्नति करता है या करना चाहता है, तो सबसे पहली कमी जो पथारूढ़ होने से उसे रोकती है वह है आत्म विश्वास की कमी। जब मनुष्य कार्य क्षेत्र में प्रवेश करता है तो दूसरे उन्नत पुरुषों को देख कर उसकी हिम्मत पस्त हो जाती है। "मैं कहां, ये कहां। जमीन आसमान का अन्तर है। इनके आगे मेरी कैसे पेश चलेगी।" आदि क्षुद्र विचार उसके नव-पल्लवित शुभ विचारों पर आक्रमण कर देते हैं।

जीवन के प्रत्येक कार्य क्षेत्र में एक से एक बढ़ कर मनुष्य हैं। यदि ऐसे ही विचार हों, तो उन्नति असम्भव है, क्योंकि वह मनुष्य ऐसे क्षेत्र में जाना चाहेगा जिसमें कम प्रतिद्वंदी हों और वे उससे हरेक बात में कम हों, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं। अतः उन्नति के प्रत्येक क्षेत्र में धैर्य और साहस तथा आत्म विश्वास की अत्यावश्यकता है। झुंझलाहट और जल्दबाजी उन्नति नहीं होने देती। उन्नति करते हुये यही ध्यान रखना चाहिये कि 'बस उन्नति करनी है। दूसरे उन्नत पुरुषों से आगे निकलना है। इसके साथ २ यह भी ख्याल रखे कि कुछ भी न करने या अस्थिरता से करने की अपेक्षा एक निश्चित दिशा में स्थिरता से कुछ न कुछ निरंतर करते रहना अच्छा है। इससे अवनति की तो सम्भावना है ही नहीं, परन्तु उन्नति कुछ न कुछ अवश्य ही होगी।

मेरे एक मित्र हैं जो बड़े जल्द बाज हैं और किसी कार्य को धैर्य पूर्वक नहीं करते। वे व्यायाम तो करते नहीं और करते भी हैं तो चाहते हैं कि "बस, एक बार ही जल्दी से मोटा हो जाऊं और शरीर बना लूं।" एक बार तो दूध के उफान जैसा जोश आता है परन्तु धीरे २ धैर्य की कमी के कारण वह जोश ठंडा होने लगता है और खत्म हो जाता है। यही हाल पढ़ाई का है। वे चाहते हैं कि एक बार ही दिमाग में वृद्धि हो और फिर सभी कुछ याद करलें। इन्हें जब यह बताया जाता है कि पढ़ने से मस्तिष्क बढ़ता है, तो कुछ पढ़ते हैं। परन्तु फिर दिमाग थकने लगता है तो कह उठते हैं "दिमाग बढ़ता ही नहीं।" वे फिर पढ़ नहीं सकते। वे कहते हैं पीछे का याद किया नहीं, आगे का कैसे करूँ? परन्तु वे महाशय न पीछे का याद करते हैं न आगे का। ऐसे मनुष्य यही चाहते हैं कि ऐसी बूटी घोट कर पिला दी जाय कि सभी कुछ एक बार में ही याद हो जाय।

प्रायः यह देखा जाता है कि जब कोई उत्साही विद्यार्थी भाषण देने के लिये मंच पर जाता है तो दूसरे लड़के उसे निरुत्साहित करने के लिये तालियां पीट देते हैं। इन लड़कों में या तो ऐसे लड़के होते हैं जो स्वयं स्टेज पर नहीं बोल सकते या ऐसे होते हैं जो उसकी उन्नति से ईर्ष्या करते हैं और उसे पतित करना चाहते हैं। संसार में लगभग ऐसे ही मनुष्य हैं जो स्वयं तो उन्नति कर नहीं सकते और दूसरों के भी उन्नति पथ में रोड़े अटकाते हैं। ऐसे पुरुषों की परवाह न करके हमें तो केवल बढ़ना ही चाहिये। क्योंकि उन्नति को कष्टसाध्य समझने वाले मानव उन्नति पथ पर आपकी खिल्ली उड़ायेंगे और आपको निरुत्साहित करने की कोशिश करेंगे। परन्तु यदि आप इनकी ओर ध्यान देंगे तो आपको अपनी ही उन्नति से भय लगेगा जैसे पर्वत की चोटी पर चढ़े हुये पुरुष को उसके नीचे देखने से।

केवल ख्याति पाना ही तो उन्नति नहीं है। ख्याति तो चोर, डाकू, बदमाश आदि भी प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी उन्नति से मनुष्यता को लाभ नहीं है। सात्विक तथा शुद्ध उन्नति ही संसार का भला कर सकती है। शुद्ध तथा दृढ़ संकल्प ही ऐसी उन्नति की पहली सीढ़ी है। और फिर उन्नति सभी के हृदयों में अंकुर रूप से विद्यमान है। सुविचारों और सुसंगति के पानी से यह अंकुर विशाल वृक्ष में परिणत हो जाता है। यह तो एक महोदधि है। मनुष्य कई बार असफल प्रयत्न होने पर भी साहस नहीं तोड़ते, वे ही मनुष्यरत्न अमूल्य रत्न ले आते हैं। उन्नति करते हुये यह ध्यान रहे कि 'उन्नति किसी को खोजती नहीं परन्तु वह खोजी जाती हैं। इसके लिये देखिये की आप से उन्नत कौन हैं। उनके संघ में रहिये और उन्नत होने का प्रयत्न करते रहिए।

कोई बुरा कार्य न करो। सोचो कि इस कार्य के लिये मनुष्य क्या कहेंगे। बुरे कार्य के कारण अपमानित होने का डर ही उन्नति का श्रीगणेश है। उन्नति करनी है तो अपने आपको अनन्त समझो और निश्चय करो कि मैं उन्नति पथ पर अग्रसर हूं। परन्तु अपनी समझ और अपने निश्चय को यथार्थ बनाने के लिये कटि बद्ध हो जाओ। अपने अनन्त विचारों को शब्दों की अपेक्षा कार्य रूप में प्रगट करो। प्रयत्न करते हुए अपने आपको भूल जाओ। जब तुम अनन्त होने लगो तो अपने आपको महाशक्ति का अंश मान कर गौरव का अनुभव करो, परन्तु शरीर, बुद्धि और धन के अभिमान में चूर न होजाओ। यदि उन्नति के कारण आपको अभिमान हो गया तो मध्यान्ह के सूर्य की भांति आपका पतन अवश्यंभावी है।

जब आप उन्नति पथ पर अग्रसर हैं तो भूल जायें कि आप कभी नीच, तथा दुष्ट-बुद्धि और पतित थे। निश्चय करो कि मेरा जन्म ही उन्नति के लिये हुआ है। और ध्येय की प्राप्ति में सुध बुध खोदो। और जब भी आपमें हीन विचार आयें तो सोचो कि—जब वेश्या पतिव्रता हो गई तो उसे वेश्या कहना पाप है। दुष्ट जब भगवत शरण हो गया, तो वह दुष्ट कहां रहा? जब लोहा पारस से छू गया तो उसमें लोहे के परमाणु भी तो नहीं रहे। इसी तरह जबमैं उन्नति पथ पर अग्रसर हूँ, तो अवनति हो ही कैसे सकती है?

वीर्य सञ्चित होने से मस्तिष्क में प्रबल शक्ति आती है और इस महती शक्ति के सहारे एकाग्रता साधन करना सहज हो जाता है।

\+ \+ \+

उत्तम विचारों के मन में लाने से उत्तम कार्य होते हैं और उत्तम कार्यों के करने से जीवन उत्तम होता है और उत्तम जीवन से आनन्द की प्राप्ति होती है।

\+ \+ \+

रामनाम रामबाण दवा है।

(महात्मा गांधी)

यह देखकर कि कुदरती इलाजों में मैंने रामनाम को रोग मिटाने वाला माना है और इस सम्बन्ध में कुछ लिखा भी है, वैद्यराज श्री गणेश शास्त्री जोशी मुझसे कहते हैं कि इसके सम्बन्ध का और इससे मिलता-जुलता साहित्य आयुर्वेद में ठीक-ठीक पाया जाता है। रोग को मिटाने में कुदरती इलाज का अपना बड़ा स्थान है और उसमें भी रामनाम विशेष है। यह मानना चाहिये कि जिन दिनों चरक, वाग्भट वगैराने लिखा था, उन दिनों ईश्वर को रामनाम के रूप में पहचानने की रूढ़ि पड़ी नहीं थी। यह विष्णु के नाम की महिमा थी। मैंने तो बचपन से राम नाम के जरिये ही ईश्वर को भजा है। लेकिन मैं जानता हूं कि ईश्वर को ॐ के नाम से भजो या संस्कृत, प्राकृतसे लेकर इस देश की या दूसरे देश की किसी भी भाषा के नाम से उसको जपो, परिणाम एक ही होता है। ईश्वर को नाम की जरूरत नहीं। वह और उसका कायदा दोनों एक ही हैं। इसलिए ईश्वरीय नियमों का पालन ही ईश्वर का है। अतएव केवल तात्त्विक दृष्टि से देखें, तो जो ईश्वर की नीति के साथ तदाकार हो गया है,उसे जपकी जरूरत भी नहीं। अथवा जिसके लिए जप या नाम का उच्चारण साँस उसाँस की तरह स्वाभाविक हो गया है, वह ईश्वरमय बन चुका है, यानी ईश्वर की नीति को वह सहज ही पहचान लेता है और सहज भाव से उसका पालन करता है। जो इस तरह बरतता है। उसके लिए दूसरी दवाकी जरूरत क्या?

ऐसा होने पर भी जो दवाओं की दवा है, यानी राजदवा है, उसीको हम कम से कम पहचानते हैं। जो पहचानते हैं, वे उसको भजते नहीं, और जो भजते हैं, वे सिर्फ जबान से भजते हैं, दिलसे नहीं। इस कारण वे तोते के स्वभाव की नकल भर करते हैं, अपने स्वभाव का अनुसरण नहीं। इसलिए वे सब ईश्वर को 'सर्व रोगहारी' के रूपमें नहीं पहचानते।

पहचानें भी कैसे? यह दवा न तो वैद्य उन्हें देते हैं, न हकीम, और न डाक्टर। खुद वैद्यों हकीमों और डाक्टरों को भी इस पर आस्था नहीं। यदि वे बीमारों को घर बैठे गंगा-सी यह दवा दें, तो उनका धन्धा कैसे चले? इसलिए उनकी दृष्टि में तो उनकी पुड़िया और शीशी ही रामबाण दवा है। इस दवा से उनका पेट भरता है और रोगी को हाथों हाथ फल भी देखने को मिलता है। "फलां-फलां ने मुझको चूरन दिया और मैं अच्छा हो गया" कुछ लोग ऐसा कहने वाले निकल आते हैं और वैद्य का व्यापार चल पड़ता है।

वैद्यों और डाक्टरों के रामनाम रटने की सलाह देने से रोगी का दरिद्र दूर नहीं होता। जब वैद्य खुद उसके चमत्कार को जानता है, तभी रोगी को भी उसके चमत्कार का पता चल सकता है। रामबाण पोथी का बैंगन नहीं, वह तो अनुभव की प्रसादी है। जिसने उसका अनुभव प्राप्त किया है, वही यह दवा दे सकता है, दूसरा नहीं।

वैद्यराज ने मुझे चार मंत्र लिखकर दिये हैं। उनमें चरक ऋषिवाला मंत्र सीधा और सरल है। उसका अर्थ यों है:—

चराचर के स्वामी विष्णु के हजार नामों में से एक का भी जप करने से सब रोग शान्त होते हैं।

विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नाम सहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति॥

चरक चिकित्सा, अ० ३—श्लोक ३११।

क्या आपने यह पुस्तकें अभी तक नहीं पढ़ीं ?

गायत्री के पांच ग्रन्थों पर लोक मत देखिए !

यह पुस्तकें आपके बड़े काम की हैं, इन्हें मंगाने में विलम्ब न कीजिए ।

गतमास की 'अखण्ड ज्योति' में छपी सूचना के अनुसार मैंने आपके यहां से गायत्री संबंधी पांचों पुस्तकें मंगाई थीं। गायत्री मंत्र के संबंध में भारतवर्ष में किसी ने भी इतनी श्रम साध्य खोज नहीं की यह दावे के साथ कहा जा सकता है । इन पांचों पुस्तकों का एक सैट मेरे नाम वी०पी० से और भेजदें, स्थानीय पुस्तकालय को दान दूंगा।

—मिठ्ठनलाल अग्रवाल, गुलवर्गा।

गायत्री विज्ञान की पांचों पुस्तकें पढ़ीं । हजारों ग्रन्थों को मथ कर उनका सार उपस्थित करना यह आप जैसे विद्यासागर का ही काम है । गायत्री मंत्र भारतीय धर्म की आत्मा है, उसका रहस्य और महत्व सर्व-साधारण पर प्रकट करने के लिए आपने जो असाधारण श्रम किया है, इस से भारतीय जनता का बड़ा हित होगा ।

—गोपी नाथ श्रीवास्तव, सरगुजा स्टेट

गायत्री मंत्र पर मेरी भारी आस्था है। मुद्दतों से इस संबंध में अच्छे साहित्य की तलाश में था पर छोटी छोटी पोथियों के अतिरिक्त कोई बड़ा ग्रन्थ उपलब्ध न होता था । आपके इन पांच ग्रन्थों को पाकर मुझे जितना आनन्द हुआ, वर्णन नहीं हो सकता । गायत्री संबंधी प्रत्येक रहस्य को बड़े प्रभाव पूर्ण, तार्किक और विज्ञान सम्मत ढंग से आपने समझाया है । भगवान आपको दीर्घजीवी बनावें जिससे ऐसे ही अनेक ग्रन्थ रत्नों का निर्माण हो सके ।

—न० न० पिल्लई, त्रिचनापल्ली ।

कृपया बारह सैट (६० पुस्तकें) गायत्री सम्बन्धी रेलवे पार्सल से भेजदें और बिल्टी वी०-पी० करदें । हमें यह पुस्तकें मकर संक्रान्ति के अवसर पर ब्राह्मणों को दान करनी हैं ।

—ज़ाहरमल जवाहरमल मोदानी, बम्बई।

आपकी गायत्री सम्बन्धी पुस्तकें मैंने अपने एक मित्र के पास देखी हैं, इन्हें थोड़ा सा ही देखा पढ़ा, तो ही बड़ा आनन्द हुआ। यह पुस्तकें अपने कुछ आध्यात्मिक मित्रों को भी भिजवाना चाहता हूं। एक सैट मेरे लिए तथा दस सैट नीचे लिखे पते पर भेज दें । मनीआर्डर भेजरहा हूं ।

—अम्बाप्रसाद माहेश्वरी, जैसलमेर ।

साधना मार्ग पर चलने वालों का मार्ग बड़ा कठिन है। उन्हें ऐसे सद्गुरुओं की प्राप्ति नहीं हो पाती जिनके द्वारा साधना का सीधा सच्चा और अनुभव में आया हुआ रास्ता जान सकें। आपकी इन गायत्री विद्या की पुस्तकों ने उस कठिनाई को दूर कर दिया है। योग के समस्त रहस्य इन पुस्तकों में मौजूद हैं इसमें जो साधनाएं दी गई हैं वे इतनी व्यापक हैं कि किसी भी बड़ी से बड़ी सिद्धि को प्राप्त करने के लिए और किसी शिक्षा की आवश्यकता न पड़ेगी। इन पुस्तकों की प्रशंसा करूं या आपकी कुछ कहते नहीं बनता।

—निर्मलानन्द सन्यासी, देव प्रयाग

पांचों पुस्तकें पढ़ीं, इन्हें योग और अध्यात्म विद्या का विश्व कोष कहना चाहिए। मनुष्य जीवन के सर्वांगीण विकाश के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता है वह इस में पर्याप्त मात्रा में मौजूद है। धर्म, नीति, दर्शन और अध्यात्म कोई तथ्य ऐसा नहीं बचा जिसकी चर्चा इन पुस्तकों में न हुई हो। इन्हें आपके अगाध ज्ञान का उज्वल चित्र ही कहना चाहिए।

—पाण्डुरंग विक्रमजी दर्शनतीर्थ, नडियाद ।

---

(१) गायत्री विज्ञान (२) गायत्री रहस्य (३) गायत्री के अनुभव (४) गायत्री तंत्र (५) गायत्री योग, यह पांच पुस्तकें गत मास ही छपी हैं। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य दो दो रुपया है पांचों एक साथ लेने से डाक खर्च माफ।

—'अखण्ड ज्योति' कार्यालय, मथुरा।

विचार-बिन्दु !

(डा० गोपालप्रसाद 'वंशी,' बेतिया)

सौन्दर्य्य फैशन में नहीं है। सौन्दर्य्य हृदय के आदर्श गुणों में है—सौन्दर्य्य बोल चाल, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, विनय-नम्रता, सच्चाई-सफाई, स्वास्थ्य और शक्ति आदि की स्वाभाविक उच्चता में है। जिसका हृदय सुन्दर और मधुर है, जिसके कार्य सुन्दर और मधुर हैं, वही सब से बढ़कर सुन्दर है।

\+ + +

उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम—ये छै गुण जिस मनुष्य में हैं, वह सब कुछ पाता है।

\+ + +

प्रेम और वासना में उतना ही अन्तर है, जितना कंचन और कांच में। प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है और उनमें केवल मात्रा का भेद है। भक्ति में सम्मान का, प्रेम में सेवा-भाव का आधिक्य होता है। प्रेम के लिये धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं है। ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिये हैं—जिसका अंत विवाह है, उस प्रेम के लिये नहीं—जिसका अन्त बलिदान है।

\+ + +

प्रेम और भक्ति दोनों ही दिल से लौ लगाने को कहते हैं। मगर प्रेम दिल को उधर ही जाने देता है, जिधर वह आप से आप जाता है और भक्ति उसे उधर चलने को कहती है, जिधर सत्य रास्ता बतावे।

\+ + +

आत्म स्वातंत्र्य का खून करके अगर जीवन की चिन्ताओं से निवृत्ति हुई, तो क्या ? आत्मा इतनी तुच्छ वस्तु नहीं है कि उदर-पालन के लिए उसकी हत्या की जाय।

\+ + +

हृदय को समुद्र की भांति महान कर लो। संसार की छोटी-छोटी बातों से ऊपर उठ जाओ। यहां तक कि अशुभ घटना होने पर भी आनन्द मनाओ। दुनिया को एक तसवीर की तरह समझो, याद रक्खो कि संसार की कोई भी वस्तु तुम्हें विचलित नहीं कर सकती।

\+ + +

यही वस्तु (वीर्य) जब हमारे पास है, तभी तो आनन्द प्राप्त होता है, नहीं तो रमणी के देह में तो कुछ भी नहीं है। जो चीज देह से निकलते समय क्षण काल के लिये इतना आनन्द दे जाती है, यदि उसको देह में रखा जाय तो कितने आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

\+ + +

भोजन की मात्रा को आधा करदो, पानी जितना पीते हो उसका दूना पीओ, जितना हँसते हो उसका तिगुना हँसो, चौगुना व्यायाम करो। बुरी आदतों को छोड़ो। खराब संगति में रहने की अपेक्षा अकेले ही रहो। कभी हतोत्साह मत होओ। बुरे विचारों को अपने मस्तिष्क में स्थान न दो।

\+ + +

प्रभु से बल की याचना करो और प्रण करो कि पुनः कदापि पाप न करोगे, औषधि सेवन त्याग दो और प्रकृति माता की प्रेमभरी गोद का आश्रय लो। स्वास्थ्य रूप दीर्घ जीवन का रहस्य ब्रह्मचर्य में ही है।

\+ + +

रोग, शोक अपने ही कर्मों का परिणाम है।

\+ + +

आत्म पथ की ओर।

(श्री० आनन्दीलालजी चौरासिया, हृदय नगर)

---

(१)

हो तुम भी सब जीवों के सम किन्तु कहाते हो शिर मौर।
क्यों सुर करें प्रशंसा नर की ? हे वर नर ! कुछ कर तो गौर॥
कारण-क्रिया प्रणाली निर्मल, भरा हुआ मन में शुचिज्ञान।
हे पट ! क्यों निज स्वाभाविक गति छोड़ कर रहे कुटिल पयान॥

(२)

तुम स्वामी, तुम सृष्टा हो, तुम शुचि हो तुम हो निर्विकार।
इस मनुष्यत्व के कर्म क्षेत्र को करो न कर्मठ ! अस्वीकार॥
फैला अज्ञान अविद्या का, घनघोर घटा सा अन्धकार।
हे अंशुमान् ! यह दूर करो, अपनी दैवी किरणें पसार॥

(३)

हे लघुतम ! तू ही है महान, तेरी संज्ञा सत् शिव सुन्दर।
तू ज्योति पिण्ड, तू केन्द्र, विन्दु तुझसे झरता अमृत निर्झर॥
माया, ममता, आशा, तृष्णा, संकुचित स्वार्थ के चिरबंधन।
कर टूक-टूक आगे आओ, पकड़ो समता का अवलम्बन॥

(४)

परमार्थ मार्ग के पथिक बनो, ऊंचा रक्खो आदर्श लक्ष।
असुरत्व पराजित करो वीर ! जीते जगती का देव पक्ष॥
पहचानो अपने आपे को, जिससे तुम सब कुछ सको जान।
सत्संग करो, सद्ग्रन्थ पढ़ो, अपनाओ तप, दम, यज्ञ, दान॥

(५)

सब आत्म-स्वरूप हमारे हैं, सब जगमें अपना है निवास।
अपने से भिन्न नहीं कोई, फैला दश-दिश अपना प्रकाश॥